









Artists' Edition

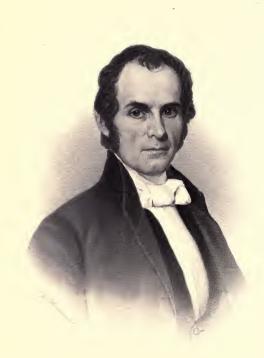
THE WORKS OF

JOHN GREENLEAF WHITTIER

ILLUSTRATED WITH STEEL PORTRAITS AND PHOTOGRAVURES

> IN SEVEN VOLUMES VOLUME II





THE POSTICAL WORKS OF

PRODUCT OR LOCAL

A CONTRACT OF A



Mr. Whittier in 1846



THE POETICAL WORKS OF JOHN GREENLEAF WHITTIER

IN FOUR VOLUMES VOLUME II

POEMS OF NATURE, POEMS SUBJECTIVE AND REMINISCENT, RELIGIOUS POEMS



BOSTON AND NEW YORK HOUGHTON, MIFFLIN AND COMPANY (Che Riberside Press, Cambridge

en de Califordia a Alguna gradiel, en personar

| Seven | Hundred | and | Fifty | Copies |
|---------|---------|-----|-------|--------|
| Printel | . Rum | ber | 12 | 0 |

COPTRIGHT, 1848, 1850, 1853, 1856, 1877, 1800, 1868, 1866, 1867, 1868, 1870, 1872, 1874, 1875, 1875, 1871, 1883, 1884, 1886, 1884, 1880, 1881, BY JOHN GREENLEAF WHITTIER, TICKNOR & FIELDS, JAMES R. OSGOOD & CO., AND HOUGHTON, MIFFLIN & CO.

COPYRIGHT, 1892, BY HOUGHTON, MIFFLIN & CO.

ALL RIGHTS BESERVED

· · · · ..

• • • •

PS 3250 E92a U.2

| POEMS OF NATURE. | | | 3 | AGE |
|------------------------------------|------|------|-----|-----------|
| THE FROST SPIRIT | | | | 9 |
| THE MERRIMAC. | • | | | 10 |
| HAMPTON BEACE | | | | 14 |
| A DREAM OF SUMMER | | | | 17 |
| THE LAKESIDE | | | | 18 |
| AUTUMN THOUGHTS | | | | 20 |
| ON RECEIVING AN EAGLE'S QUILL FROM | LAR | E St | PE- | |
| RIOR | | | | 21 |
| April | | | | 24 |
| PICTURES | | | | 25 |
| SUMMER BY THE LAKESIDE | | | | 27 |
| THE FRUIT-GIFT | | | | 31 |
| FLOWERS IN WINTER | | | | 33 |
| THE MAYFLOWERS | | | | 35 |
| THE LAST WALK IN AUTUMN | | | | 37 |
| THE FIRST FLOWERS | | | | 46 |
| THE OLD BURYING-GROUND | | | | 48 |
| THE PALM-TREE | | | | 52 |
| THE RIVER PATH | | | | 53 |
| MOUNTAIN PICTURES. | | | | |
| I. FRANCONIA FROM THE PEMIGEWA | SSET | | | 55 |
| II. MONADNOCK FROM WACHUSET | | | | 57 |
| THE VANISHERS | | | | 59 |
| THE PAGEANT | | | | 61 |
| THE PRESSED GENTIAN | | | | 64 |
| A MYSTERY | | | | 66 |

| L | A SEA DREAM | • | • | • | • | | • | • | | . 67 |
|-----|------------------|-------|-----|-----|-----|------|------|---|---|------|
| I | HAZEL BLOSSOMS | | | | | | | | | 72 |
| S | SUNSET ON THE BI | EARCA | AMP | • | | | | | | . 73 |
| 1 | THE SEEKING OF 7 | THE 1 | VA: | rer | FAL | с. | | | • | 76 |
| 1 | THE TRAILING AR | BUTU | s | | | | • | | | . 81 |
| 5 | ST. MARTIN'S SUM | MER | | | | | | | | 81 |
| 5 | STORM ON LAKE A | SQUA | M | | | | | | | . 84 |
| 1 | A SUMMER PILGRI | MAGE | | | | | | | | 86 |
| 5 | Sweet Fern . | | | | | | | | | . 89 |
| 1 | THE WOOD GLANT | | | | | | | | | 91 |
| 1 | A DAY | | | | | | | | | . 93 |
| POE | MS SUBJECTIVE | ANI | DI | REN | 4IN | ISCE | INT. | | | |
| I | Memories | | | | | | | | | 95 |
| 1 | RAPHAEL | | | | | | | | | . 98 |
| 1 | Ego | | | | | | | | | 101 |
| 5 | THE PUMPKIN . | | | | | | | | | 107 |
| 1 | FORGIVENESS . | | | | | | | | | 109 |
| 7 | FO MY SISTER . | | | | | | | | | 110 |
| 1 | My THANKS . | | | | | | | | | 111 |
| 1 | REMEMBRANCE . | | | | | | | | | 114 |
| 1 | My NAMESAKE | | | | | | | | | 116 |
| 1 | A MEMORY | | | | | | | | | 122 |
| 1 | My DREAM . | | | | | | | | | 123 |
| | THE BAREFOOT BO | or. | | | | | | | | 126 |
| 1 | My PSALM . | | | | | | | | | 130 |
| | THE WAITING . | | | | | | | | | 132 |
| 5 | SNOW-BOUND . | | | | | | | | | 134 |
| 1 | My TRIUMPH . | | | | | | | | | 159 |
|] | IN SCHOOL-DAYS | | | | | | | | | 162 |
| 1 | My Birthday . | | | | | | | | | 164 |
| 3 | RED RIDING-HOOD | | | | • | | | | | 166 |
|] | Response | | | | | | | | | 168 |
| | AT EVENTIDE . | | | | | | | | | 169 |
| 7 | VOYAGE OF THE J | ETTH | 6 | | | | | | | 170 |
| 3 | My TRUST . | | | | | | | | | 174 |
| | A NAME | | | | | | | | | 176 |
| | GREETING | | | | | | | | | 178 |
| | | | | | | | | | | |

| | AN AUTOGRAPH | | • | | • | | • | | • | | • | 179 |
|-----|---------------------------|----|---|---|----|-----|-----|---|----|---|---|------------|
| | ABRAM MORRISON | • | | • | | • | | • | | ٠ | | 182 |
| | A LEGACY | | • | | • | | • | | | | • | 186 |
| REI | LIGIOUS POEMS. | | | | | | | | | | | |
| | THE STAR OF BETHLEHEM | • | | • | | • | | | | | | 188 |
| | THE CITIES OF THE PLAIN | | • | | • | | • | | | | • | 191 |
| | THE CALL OF THE CHRISTIAN | ĩ. | | • | | | | | | • | | 193 |
| | THE CRUCIFIXION | | | | • | | • | | • | | • | 195 |
| | PALESTINE | • | | • | | | | | | • | | 196 |
| | HYMNS FROM THE FRENCH O | F | L | M | AR | гIJ | NE. | | | | | |
| | I. Encore un Hymne. | | • | | • | | • | | • | | • | 200 |
| | II. LE CRI DE L'AME. | | | • | | • | | • | | • | | 203 |
| | THE FAMILIST'S HYMN . | | | | • | | | | • | | • | 205 |
| | EZEKIEL | • | | • | | | | • | | • | | 209 |
| | WHAT THE VOICE SAID . | | | | | | | | • | | | 213 |
| | THE ANGEL OF PATIENCE | • | | | | • | | • | | • | | 216 |
| | THE WIFE OF MANOAH TO H | | | | | | | | | | • | 217 |
| | My Soul and I | • | | • | | • | | • | | • | | 220 |
| | Worship | | • | | • | | • | | • | | • | 227 |
| | THE HOLY LAND | • | | • | | • | | • | | • | | 230 |
| | The Reward | | • | | • | | • | | • | | • | 232 |
| | THE WISH OF TO-DAY . | • | | • | | • | | • | | • | | 233 |
| | All's Well | | | | • | | • | | • | | • | 234 |
| | INVOCATION | • | | • | | • | | • | | | | 235 |
| | QUESTIONS OF LIFE | | • | | • | | • | | •. | | • | 236 |
| | FIRST-DAY THOUGHTS . | • | | • | | | | • | | • | | 242 |
| | TRUST | | • | | • | | • | | • | | | 242 |
| | TRINITAS | • | | • | | • | | • | | • | | 243 |
| | The Sisters | | | | | | • | | • | | | 246 |
| | "THE ROCK" IN EL GHOR | • | | • | | • | | • | | | | |
| | THE OVER-HEART | | • | | • | | • | | • | | | 249 |
| | THE SHADOW AND THE LIGH | т | | • | | • | | ٠ | | | | 252 |
| | THE CRY OF A LOST SOUL | | • | | • | | • | | • | | | 256 |
| | ANDREW RYKMAN'S PRAYER | • | | • | | • | | • | | | | 258 |
| | The Answer · · · | | • | | • | | • | | • | | | 265 |
| | THE ETERNAL GOODNESS | • | | • | | • | | • | | • | | 267 |

5

-

| THE COMMON QUESTION . | • | | • | | ٠ | | • | | ٠ | | 271 |
|-------------------------|----|---|---|---|---|---|---|---|---|---|-----|
| OUR MASTER | • | | | • | | • | | • | | • | 272 |
| THE MEETING | | | • | | • | | • | | ٠ | | 278 |
| THE CLEAR VISION . | • | | | • | | • | | • | | • | 286 |
| DIVINE COMPASSION | | | • | | | | • | | · | | 287 |
| THE PRAYER-SEEKER | • | | | • | | • | | • | | • | 289 |
| THE BREWING OF SOMA . | | • | | , | | | • | | • | | 291 |
| A. Woman | • | | • | • | | • | | • | | • | 294 |
| THE PRAYER OF AGASSIZ | | | | | • | | • | | • | | 295 |
| In Quest | • | | | | | • | | • | | • | 299 |
| THE FRIEND'S BURIAL . | | • | | | • | | | | • | | 301 |
| A CHRISTMAS CARMEN . | | | | • | | | | • | | | 304 |
| Vesta | | | | | • | | | | • | | 305 |
| CHILD-SONGS | | | | • | | • | | | | | 306 |
| THE HEALER | | | • | | | | • | | • | | 308 |
| THE TWO ANGELS | | | | | | | | • | | • | 309 |
| OVERRULED | | | | | | | | | | | 311 |
| HYMN OF THE DUNKERS | | | | | | | | • | | | 312 |
| GIVING AND TAKING | | • | | | | | | | | | 314 |
| THE VISION OF ECHARD | • | | | | | | | | | | 315 |
| INSCRIPTIONS. | | | | | | | | | | | |
| ON A SUN-DIAL . | | • | | • | | | | | | | 322 |
| ON A FOUNTAIN . | • | | | | | | | | | | 323 |
| THE MINISTER'S DAUGHTER | \$ | • | | | | | | | | | 323 |
| BY THEIR WORKS . | • | | • | | | • | | • | | • | 326 |
| THE WORD | | • | | | | | • | | | | 326 |
| THE BOOK | • | | , | • | | • | | • | | | 327 |
| Requirement | | • | | • | | | • | | | | 327 |
| Help | • | | • | | | | | | | | 328 |
| UTTERANCE | | | | | • | | • | | • | | 329 |
| ORIENTAL MAXIMS. | | | | | | | | | | | |
| THE INWARD JUDGE | | | • | | | | | | | • | 329 |
| LAVING UP TREASURE | | • | | | • | | • | | | | 330 |
| CONDUCT | • | | • | | | | | • | | | 330 |
| AN EASTER FLOWER GIFT | | • | | • | | | | | • | | 331 |
| THE MYSTIC'S CHRISTMAS | | | | | | | | | | | 331 |

6

Ne.

| | AT LAS | т | • | | • | • | | | | • | • | 333 |
|----|--------|-------|-------------|------|------|------|----|------|---|---|---|-----|
| | WHAT 7 | тне ? | FRAV | ELLE | R SA | ID A | тS | UNSE | T | | | 334 |
| | THE "S | STORY | OF | IDA | " | | | | | • | | 336 |
| | THE LI | GHT | THAT | IS I | ELT | | | | • | | • | 337 |
| | THE TY | vo L | OVES | | | | | | | • | • | 337 |
| | Adjust | MENT | | | | | | | | | • | 339 |
| | Hymns | OF 1 | HE I | BRAH | MO S | OMA | J | | | • | | 340 |
| | REVELA | TION | | | | | | • | | | | 342 |
| NO | TES | | | | | | | | | • | | 345 |
| | | | | | | | | | | | | |

Note. — The portrait which prefaces this volume is an engraving on steel by J. A. J. Wilcox, executed in 1888 from the original painting by A. G. Hoyt in 1846.



LIST OF ILLUSTRATIONS

PAGE

| JOHN GREENLEAF WHITTIER AT THE AGE OF 39. En | 1- | |
|---|----|-----|
| graved on Steel, by J. A. J. Wilcox, from the origina | ıl | |
| painting by A. G. Hoyt Frontispied | e | |
| HAMPTON BEACH M. J. Burns | | 14 |
| THE OLD BURYING-GROUND Chas. H. Woodbury | • | 48 |
| THE BAREFOOT BOY E. H. Garrett | | 128 |
| SNOW-BOUND E. H. Garrett | • | 138 |
| THE STAR OF BETHLEHEM Vesper L. George . | | 188 |
| THE VISION OF ECHARD Howard Pyle | | 316 |

POEMS OF NATURE

THE FROST SPIRIT.

- HE comes, he comes, the Frost Spirit comes! You may trace his footsteps now
- On the naked woods and the blasted fields and the brown hill's withered brow.
- He has smitten the leaves of the gray old trees where their pleasant green came forth,
- And the winds, which follow wherever he goes, have shaken them down to earth.
- He comes, he comes, the Frost Spirit comes! from the frozen Labrador,
- From the icy bridge of the Northern seas, which the white bear wanders o'er,
- Where the fisherman's sail is stiff with ice, and the luckless forms below
- In the sunless cold of the lingering night into marble statues grow!
- He comes, he comes, the Frost Spirit comes! on the rushing Northern blast,
- And the dark Norwegian pines have bowed as his fearful breath went past.

With an unscorched wing he has hurried on, where the fires of Hecla glow

On the darkly beautiful sky above and the ancient ice below.

- He comes, he comes, the Frost Spirit comes! and the quiet lake shall feel
- The torpid touch of his glazing breath, and ring to the skater's heel;
- And the streams which danced on the broken rocks, or sang to the leaning grass,
- Shall bow again to their winter chain, and in mournful silence pass.
- He comes, he comes, the Frost Spirit comes ! Let us meet him as we may,
- And turn with the light of the parlor-fire his evil power away;
- And gather closer the circle round, when that firelight dances high,
- And laugh at the shriek of the baffled Fiend as his sounding wing goes by !

1830.

THE MERRIMAC.

"The Indians speak of a beautiful river, far to the south, which they call Merrimac." - SIEUR DE MONTS, 1604.

STREAM of my fathers! sweetly still The sunset rays thy valley fill; Poured slantwise down the long defile, Wave, wood, and spire beneath them smile. I see the winding Powow fold The green hill in its belt of gold, And following down its wavy line, Its sparkling waters blend with thine. There's not a tree upon thy side, Nor rock, which thy returning tide As yet hath left abrupt and stark Above thy evening water-mark; No calm cove with its rocky hem, No isle whose emerald swells begem Thy broad, smooth current; not a sail Bowed to the freshening ocean gale; No small boat with its busy oars, Nor gray wall sloping to thy shores; Nor farm-house with its maple shade. Or rigid poplar colonnade, But lies distinct and full in sight, Beneath this gush of sunset light. Centuries ago, that harbor-bar, Stretching its length of foam afar. And Salisbury's beach of shining sand, And vonder island's wave-smoothed strand. Saw the adventurer's tiny sail. Flit, stooping from the eastern gale:¹ And o'er these woods and waters broke The cheer from Britain's hearts of oak. As brightly on the voyager's eye, Weary of forest, sea, and sky, Breaking the dull continuous wood, The Merrimac rolled down his flood ; Mingling that clear pellucid brook, Which channels vast Agioochook When spring-time's sun and shower unlock

POEMS OF NATURE

The frozen fountains of the rock, And more abundant waters given From that pure lake, "The Smile of Heaven," Tributes from vale and mountain-side, — With ocean's dark, eternal tide !

On vonder rocky cape, which braves The stormy challenge of the waves, Midst tangled vine and dwarfish wood, The hardy Anglo-Saxon stood, Planting upon the topmost crag The staff of England's battle-flag; And, while from out its heavy fold Saint George's crimson cross unrolled. Midst roll of drum and trumpet blare, And weapons brandishing in air, He gave to that lone promontory The sweetest name in all his story :² Of her, the flower of Islam's daughters, Whose harems look on Stamboul's waters. -Who, when the chance of war had bound The Moslem chain his limbs around. Wreathed o'er with silk that iron chain. Soothed with her smiles his hours of pain, And fondly to her youthful slave A dearer gift than freedom gave.

But look ! the yellow light no more Streams down on wave and verdant shore ; And clearly on the calm air swells The twilight voice of distant bells. From Ocean's bosom, white and thin, The mists come slowly rolling in ; Hills, woods, the river's rocky rim, Amidst the sea-like vapor swim, While yonder lonely coast-light, set Within its wave-washed minaret, Half quenched, a beamless star and pale, Shines dimly through its cloudy veil !

Home of my fathers ! - I have stood Where Hudson rolled his lordly flood : Seen sunrise rest and sunset fade Along his frowning Palisade ; Looked down the Appalachian peak On Juniata's silver streak : Have seen along his valley gleam The Mohawk's softly winding stream; The level light of sunset shine Through broad Potomac's hem of pine; And autumn's rainbow-tinted banner Hang lightly o'er the Susquehanna; Yet wheresoe'er his step might be, Thy wandering child looked back to thee ! Heard in his dreams thy river's sound Of murmuring on its pebbly bound, The unforgotten swell and roar Of waves on thy familiar shore; And saw, amidst the curtained gloom And quiet of his lonely room, Thy sunset scenes before him pass; As, in Agrippa's magic glass, The loved and lost arose to view. Remembered groves in greenness grew, Bathed still in childhood's morning dew. Along whose bowers of beauty swept

POEMS OF NATURE

Whatever Memory's mourners wept, Sweet faces, which the charnel kept, Young, gentle eyes, which long had slept; And while the gazer leaned to trace, More near, some dear familiar face, He wept to find the vision flown, — A phantom and a dream alone! 1841.

HAMPTON BEACH.

THE sunlight glitters keen and bright, Where, miles away, Lies stretching to my dazzled sight A luminous belt, a misty light, Beyond the dark pine bluffs and wastes of sandy gray.

The tremulous shadow of the Sea! Against its ground

- Of silvery light, rock, hill, and tree,
- Still as a picture, clear and free,
- With varying outline mark the coast for miles around.

On — on — we tread with loose-flung rein Our seaward way,

Through dark-green fields and blossoning grain, Where the wild brier-rose skirts the lane,

And bends above our heads the flowering locust spray.







.

Ha! like a kind hand on my brow Comes this fresh breeze. Cooling its dull and feverish glow, While through my being seems to flow The breath of a new life, the healing of the seas! Now rest we, where this grassy mound His feet hath set In the great waters, which have bound His granite ankles greenly round With long and tangled moss, and weeds with cool spray wet. Good-by to Pain and Care! I take Mine ease to-day: Here where these sunny waters break, And ripples this keen breeze, I shake All burdens from the heart, all weary thoughts away. I draw a freer breath. I seem Like all I see -Waves in the sun, the white-winged gleam Of sea-birds in the slanting beam, And far-off sails which flit before the south-wind free. So when Time's veil shall fall asunder. The soul may know No fearful change, nor sudden wonder, Nor sink the weight of mystery under, But with the upward rise, and with the vastness grow.

And all we shrink from now may seem No new revealing; Familiar as our childhood's stream, Or pleasant memory of a dream The loved and cherished Past upon the new life stealing.

Serene and mild the untried light May have its dawning;

And, as in summer's northern night

The evening and the dawn unite,

The sunset hues of Time blend with the soul's new morning.

I sit alone; in foam and spray Wave after wave

Breaks on the rocks which, stern and gray,

Shoulder the broken tide away,

Or murmurs hoarse and strong through mossy cleft and cave.

What heed I of the dusty land And noisy town? I see the mighty deep expand From its white line of glimmering sand To where the blue of heaven on bluer waves shuts down!

In listless quietude of mind,

I yield to all

The change of cloud and wave and wind

And passive on the flood reclined,

I wander with the waves, and with them rise and fall.

But look, thou dreamer ! wave and shore In shadow lie; The night-wind warns me back once more To where, my native hill-tops o'er, Bends like an arch of fire the glowing sunset sky.

So then, beach, bluff, and wave, farewell ! I bear with me No token stone nor glittering shell, But long and oft shall Memory tell Of this brief thoughtful hour of musing by the Sea. 1843.

A DREAM OF SUMMER.

BLAND as the morning breath of June The southwest breezes play;
And, through its haze, the winter noon Seems warm as summer's day.
The snow-plumed Angel of the North Has dropped his icy spear;
Again the mossy earth looks forth, Again the streams gush clear.
The fox his hillside cell forsakes, The muskrat leaves his nook,
The bluebird in the meadow brakes Is singing with the brook.

"Bear up, O Mother Nature!" cry Bird, breeze, and streamlet free;
"Our winter voices prophesy Of summer days to thee!" So, in those winters of the soul, By bitter blasts and drear O'erswept from Memory's frozen pole, Will sunny days appear. Reviving Hope and Faith, they show The soul its living powers. And how beneath the winter's snow Lie germs of summer flowers! The Night is mother of the Day. The Winter of the Spring, And ever upon old Decay The greenest mosses cling. Behind the cloud the starlight lurks, Through showers the sunbeams fall; For God, who loveth all His works, Has left His hope with all !

4th 1st month, 1847.

THE LAKESIDE.

THE shadows round the inland sea Are deepening into night; Slow up the slopes of Ossipee They chase the lessening light. Tired of the long day's blinding heat, I rest my languid eye, Lake of the Hills ! where, cool and sweet, Thy sunset waters lie !

Along the sky, in wavy lines, O'er isle and reach and bay,

Green-belted with eternal pines. The mountains stretch away. Below, the maple masses sleep Where shore with water blends, While midway on the tranquil deep The evening light descends. So seemed it when yon hill's red crown, Of old, the Indian trod. And, through the sunset air, looked down Upon the Smile of God. To him of light and shade the laws No forest skeptic taught ; Their living and eternal Cause His truer instinct sought. He saw these mountains in the light Which now across them shines : This lake, in summer sunset bright, Walled round with sombering pines. God near him seemed; from earth and skies His loving voice he heard, As, face to face, in Paradise, Man stood before the Lord. Thanks, O our Father ! that, like him, Thy tender love I see, In radiant hill and woodland dim, And tinted sunset sea. For not in mockery dost Thou fill Our earth with light and grace ; Thou hid'st no dark and cruel will Behind Thy smiling face ! 1849.

AUTUMN THOUGHTS.

GONE hath the Spring, with all its flowers, And gone the Summer's pomp and show, And Autumn, in his leafless bowers, Is waiting for the Winter's snow.

I said to Earth, so cold and gray, "An emblem of myself thou art." "Not so," the Earth did seem to say, "For Spring shall warm my frozen heart."

I soothe my wintry sleep with dreams Of warmer sun and softer rain, And wait to hear the sound of streams And songs of merry birds again.

But thou, from whom the Spring hath gone, For whom the flowers no longer blow, Who standest blighted and forlorn, Like Autumn waiting for the snow;

No hope is thine of sunnier hours, Thy Winter shall no more depart ; No Spring revive thy wasted flowers,

Nor Summer warm thy frozen heart. 1849.

ON RECEIVING AN EAGLE'S QUILL FROM LAKE SUPERIOR.

ALL day the darkness and the cold Upon my heart have lain, Like shadows on the winter sky, Like frost upon the pane;

But now my torpid fancy wakes, And, on thy Eagle's plume, Rides forth, like Sindbad on his bird, Or witch upon her broom !

Below me roar the rocking pines, Before me spreads the lake Whose long and solemn-sounding waves

Against the sunset break.

I hear the wild Rice-Eater thresh The grain he has not sown;

I see, with flashing scythe of fire, The prairie harvest mown !

I hear the far-off voyager's horn ; I see the Yankee's trail, —

His foot on every mountain-pass, On every stream his sail.

By forest, lake, and waterfall, I see his pedler show; The mighty mingling with the mean, The lofty with the low.

He's whittling by St. Mary's Falls, Upon his loaded wain; He's measuring o'er the Pictured Rocks, With eager eyes of gain.

I hear the mattock in the mine, The axe-stroke in the dell, The clamor from the Indian lodge, The Jesuit chapel bell!

I see the swarthy trappers come From Mississippi's springs; And war-chiefs with their painted brows, And crests of eagle wings.

Behind the scared squaw's birch canoe, The steamer smokes and raves; And city lots are staked for sale Above old Indian graves.

I hear the tread of pioneers Of nations yet to be; The first low wash of waves, where soon Shall roll a human sea.

The rudiments of empire here Are plastic yet and warm; The chaos of a mighty world Is rounding into form !

Each rude and jostling fragment soon Its fitting place shall find, — The raw material of a State, Its muscle and its mind !

 $\mathbf{22}$

ON RECEIVING AN EAGLE'S QUILL 23

And, westering still, the star which leads The New World in its train Has tipped with fire the icy spears Of many a mountain chain.

The snowy cones of Oregon Are kindling on its way; And California's golden sands Gleam brighter in its ray!

Then blessings on thy eagle quill, As, wandering far and wide,

I thank thee for this twilight dream And Fancy's airy ride!

Yet, welcomer than regal plumes, Which Western trappers find, Thy free and pleasant thoughts, chance sown,

Like feathers on the wind.

Thy symbol be the mountain-bird, Whose glistening quill I hold; Thy home the ample air of hope, And memory's sunset gold!

In thee, let joy with duty join, And strength unite with love, The eagle's pinions folding round

The warm heart of the dove!

So, when in darkness sleeps the vale Where still the blind bird clings,

The sunshine of the upper sky Shall glitter on thy wings!

1849.

APRIL.

"The spring comes slowly up this way."

Christabel.

'T is the noon of the spring-time, yet never a bird In the wind-shaken elm or the maple is heard; For green meadow-grasses wide levels of snow, And blowing of drifts where the crocus should blow; Where wind-flower and violet, amber and white, On south-sloping brooksides should smile in the light,

O'er the cold winter-beds of their late-waking roots The frosty flake eddies, the ice-crystal shoots; And, longing for light, under wind-driven heaps, Round the boles of the pine-wood the ground-laurel

creeps,

Unkissed of the sunshine, unbaptized of showers, With buds scarcely swelled, which should burst

into flowers!

We wait for thy coming, sweet wind of the south! For the touch of thy light wings, the kiss of thy mouth;

For the yearly evangel thou bearest from God, Resurrection and life to the graves of the sod ! Up our long river-valley, for days, have not ceased The wail and the shriek of the bitter northeast, Raw and chill, as if winnowed through ices and

snow,

All the way from the land of the wild Esquimau,

Until all our dreams of the land of the blest, Like that red hunter's, turn to the sunny southwest.

O soul of the spring-time, its light and its breath,

Bring warmth to this coldness, bring life to this death;

Renew the great miracle; let us behold

The stone from the mouth of the sepulchre rolled,

And Nature, like Lazarus, rise, as of old !

Let our faith, which in darkness and coldness has lain,

Revive with the warmth and the brightness again, And in blooming of flower and budding of tree The symbols and types of our destiny see :

The life of the spring-time, the life of the whole,

And, as sun to the sleeping earth, love to the soul! 1852.

PICTURES.

I.

LIGHT, warmth, and sprouting greenness, and o'er all

Blue, stainless, steel-bright ether, raining down Tranquillity upon the deep-hushed town,

The freshening meadows, and the hillsides brown;

Voice of the west-wind from the hills of pine, And the brimmed river from its distant fall.

Low hum of bees, and joyous interlude Of bird-songs in the streamlet-skirting wood, — Heralds and prophecies of sound and sight, Blessed forerunners of the warmth and light, Attendant angels to the house of prayer,

- With reverent footsteps keeping pace with mine, ---
- Once more, through God's great love, with you I share

A morn of resurrection sweet and fair As that which saw, of old, in Palestine, Immortal Love uprising in fresh bloom From the dark night and winter of the tomb! 2d, 5th mo., 1852.

II.

White with its sun-bleached dust, the pathway winds

Before me; dust is on the shrunken grass, And on the trees beneath whose boughs I pass; Frail screen against the Hunter of the sky,

Who, glaring on me with his lidless eye,

While mounting with his dog-star high and higher

Ambushed in light intolerable, unbinds

The burnished quiver of his shafts of fire.

Between me and the hot fields of his South

A tremulous glow, as from a furnace-mouth,

Glimmers and swims before my dazzled sight, As if the burning arrows of his ire

Broke as they fell, and shattered into light; Yet on my check I feel the western wind,

And hear it telling to the orchard trees,

- And to the faint and flower-forsaken bees,
- Tales of fair meadows, green with constant streams,
- And mountains rising blue and cool behind,

26

Where in moist dells the purple orchis gleams,
And starred with white the virgin's bower is twined.
So the o'erwearied pilgrim, as he fares
Along life's summer waste, at times is fanned,
Even at noontide, by the cool, sweet airs
Of a serener and a holier land,
Fresh as the morn, and as the dewfall bland.
Breath of the blessed Heaven for which we pray,
Blow from the eternal hills ! make glad our earthly

way !

8th mo., 1852.

SUMMER BY THE LAKESIDE.

LAKE WINNIPESAUKEE.

I. NOON.

WHITE clouds, whose shadows haunt the deep, Light mists, whose soft embraces keep The sunshine on the hills asleep !

O isles of calm ! O dark, still wood ! And stiller skies that overbrood Your rest with deeper quietude !

O shapes and hues, dim beekoning, through Yon mountain gaps, my longing view Beyond the purple and the blue,

To stiller sea and greener land, And softer lights and airs more bland, And skies, — the hollow of God's hand !

Transfused through you, O mountain friends! With mine your solemn spirit blends, And life no more hath separate ends.

I read each misty mountain sign, I know the voice of wave and pine, And I am yours, and ye are mine.

Life's burdens fall, its discords cease, I lapse into the glad release Of Nature's own exceeding peace.

O welcome calm of heart and mind ! As falls yon fir-tree's loosened rind To leave a tenderer growth behind,

So fall the weary years away; A child again, my head I lay Upon the lap of this sweet day.

This western wind hath Lethean powers, Yon noonday cloud nepenthe showers, The lake is white with lotus-flowers !

Even Duty's voice is faint and low, And slumberous Conscience, waking slow, Forgets her blotted scroll to show.

The Shadow which pursues us all, Whose ever-nearing steps appall, Whose voice we hear behind us call, —

28

SUMMER BY THE LAKESIDE

That Shadow blends with mountain gray, It speaks but what the light waves say, — Death walks apart from Fear to-day !

Rocked on her breast, these pines and I Alike on Nature's love rely; And equal seems to live or die.

Assured that He whose presence fills With light the spaces of these hills No evil to His creatures wills,

The simple faith remains, that He Will do, whatever that may be, The best alike for man and tree.

What mosses over one shall grow, What light and life the other know, Unanxious, leaving Him to show.

II. EVENING.

Yon mountain's side is black with night, While, broad-orbed, o'er its gleaming crown The moon, slow-rounding into sight, On the hushed inland sea looks down.

How start to light the clustering isles, Each silver-hemmed! How sharply show The shadows of their rocky piles, And tree-tops in the wave below!

How far and strange the mountains seem, Dim-looming through the pale, still light! The vague, vast grouping of a dream, They stretch into the solemn night.

Beneath, lake, wood, and peopled vale, Hushed by that presence grand and grave, Are silent, save the cricket's wail, And low response of leaf and wave.

Fair scenes ! whereto the Day and Night Make rival love, I leave ye soon, What time before the eastern light The pale ghost of the setting moon

Shall hide behind yon rocky spines, And the young archer, Morn, shall break His arrows on the mountain pines, And, golden-sandalled, walk the lake!

Farewell! around this smiling bay Gay-hearted Health, and Life in bloom, With lighter steps than mine, may stray In radiant summers yet to come.

But none shall more regretful leave These waters and these hills than I : Or, distant, fonder dream how eve Or dawn is painting wave and sky;

How rising moons shine sad and mild On wooded isle and silvering bay; Or setting suns beyond the piled And purple mountains lead the day;

30

THE FRUIT-GIFT

Nor laughing girl, nor bearding boy, Nor full-pulsed manhood, lingering here, Shall add, to life's abounding joy, The charmed repose to suffering dear.

Still waits kind Nature to impart Her choicest gifts to such as gain An entrance to her loving heart Through the sharp discipline of pain.

Forever from the Hand that takes One blessing from us others fall; And, soon or late, our Father makes His perfect recompense to all!

Oh, watched by Silence and the Night, And folded in the strong embrace Of the great mountains, with the light Of the sweet heavens upon thy face,

Lake of the Northland ! keep thy dower Of beauty still, and while above Thy solemn mountains speak of power, Be thou the mirror of God's love.

1853.

THE FRUIT-GIFT.

LAST night, just as the tints of autumn's sky Of sunset faded from our hills and streams, I sat, vague listening, lapped in twilight dreams, To the leaf's rustle, and the cricket's cry.

Then, like that basket, flush with summer fruit, Dropped by the angels at the Prophet's foot, Came, unannounced, a gift of clustered sweetness.

Full-orbed, and glowing with the prisoned beams Of summery suns, and rounded to completeness By kisses of the south-wind and the dew. Thrilled with a glad surprise, methought I knew The pleasure of the homeward-turning Jew, When Eshcol's clusters on his shoulders lay, Dropping their sweetness on his desert way.

I said, "This fruit beseems no world of sin. Its parent vine, rooted in Paradise,

O'ercrept the wall, and never paid the price

Of the great mischief, — an ambrosial tree, Eden's exotic, somehow smuggled in,

To keep the thorns and thistles company." Perchance our frail, sad mother plucked in haste

A single vine-slip as she passed the gate, Where the dread sword alternate paled and burned,

And the stern angel, pitying her fate, Forgave the lovely trespasser, and turned Aside his face of fire; and thus the waste And fallen world hath yet its annual taste Of primal good, to prove of sin the cost, And show by one choosed can the windth

And show by one gleaned ear the mighty harvest lost. 1854.

32

FLOWERS IN WINTER.

PAINTED UPON A PORTE LIVRE.

How strange to greet, this frosty morn, In graceful counterfeit of flowers, These children of the meadows, born Of sunshine and of showers!

How well the conscious wood retains The pictures of its flower-sown home, The lights and shades, the purple stains, And golden hues of bloom!

It was a happy thought to bring To the dark season's frost and rime This painted memory of spring, This dream of summer-time.

Our hearts are lighter for its sake, Our fancy's age renews its youth, And dim-remembered fictions take The guise of present truth.

A wizard of the Merrimac, — So old ancestral legends say, — Could call green leaf and blossom back To frosted stem and spray.

The dry logs of the cottage wall, Beneath his touch, put out their leaves; The clay-bound swallow, at his call, Played round the icy eaves.

The settler saw his oaken flail Take bud, and bloom before his eyes; From frozen pools he saw the pale, Sweet summer lilies rise.

To their old homes, by man profaned, Came the sad dryads, exiled long, And through their leafy tongues complained Of household use and wrong.

The beechen platter sprouted wild, The pipkin wore its old-time green The cradle o'er the sleeping child Became a leafy screen.

Haply our gentle friend hath met, While wandering in her sylvan quest, Haunting his native woodlands yet, That Druid of the West;

And, while the dew on leaf and flower Glistened in moonlight clear and still, Learned the dusk wizard's spell of power, And caught his trick of skill.

But welcome, be it new or old,

The gift which makes the day more bright, And paints, upon the ground of cold And darkness, warmth and light!

Without is neither gold nor green; Within, for birds, the birch-logs sing; Yet, summer-like, we sit between The autumn and the spring.

34

THE MAYFLOWERS

The one, with bridal blush of rose, And sweetest breath of woodland balm, And one whose matron lips unclose In smiles of saintly calm.

Fill soft and deep, O winter snow! The sweet azalea's oaken dells, And hide the bank where roses blow,

And swing the azure bells!

O'erlay the amber violet's leaves, The purple aster's brookside home, Guard all the flowers her pencil gives A life beyond their bloom.

And she, when spring comes round again, By greening slope and singing flood Shall wander, seeking, not in vain, Her darlings of the wood.

1855.

THE MAYFLOWERS.

The trailing arbutus, or mayflower, grows abundantly in the vicinity of Plymouth, and was the first flower that greeted the Pilgrims after their fearful winter. The name mayflower was familiar in England, as the application of it to the historio vessel shows, but it was applied by the English, and still is, to the hawthorn. Its use in New England in connection with Epigcea repens dates from a very early day, some claiming that the first Pilgrims so used it, in affectionate memory of the vessel and its English flower association.

SAD Mayflower! watched by winter stars, And nursed by winter gales,

36

With petals of the sleeted spars, And leaves of frozen sails!

What had she in those dreary hours, Within her ice-rimmed bay, In common with the wild-wood flowers, The first sweet smiles of May?

Yet, "God be praised!" the Pilgrim said, Who saw the blossoms peer Above the brown leaves, dry and dead, "Behold our Mayflower here!"

"God wills it : here our rest shall be, Our years of wandering o'er; For us the Mayflower of the sea Shall spread her sails no more."

O sacred flowers of faith and hope, As sweetly now as then Ye bloom on many a birchen slope, In many a pine-dark glen.

Behind the sea-wall's rugged length, Unchanged, your leaves unfold, Like love behind the manly strength Of the brave hearts of old.

So live the fathers in their sons, Their sturdy faith be ours, And ours the love that overruns Its rocky strength with flowers. THE LAST WALK IN AUTUMN

The Pilgrim's wild and wintry day Its shadow round us draws; The Mayflower of his stormy bay, Our Freedom's struggling cause.

But warmer suns erelong shall bring To life the frozen sod; And through dead leaves of hope shall spring

Afresh the flowers of God ! 1856.

THE LAST WALK IN AUTUMN.

I.

O'ER the bare woods, whose outstretched hands Plead with the leaden heavens in vain, I see, beyond the valley lands, The sea's long level dim with rain. Around me all things, stark and dumb, Seem praying for the snows to come, And, for the summer bloom and greenness gone, With winter's sunset lights and dazzling morn atone. II. Along the river's summer walk,

The withered tufts of asters nod; And trembles on its arid stalk The hoar plume of the golden-rod. And on a ground of sombre fir, And azure-studded juniper, The silver birch its buds of purple shows, And scarlet berries tell where bloomed the sweet

merel 3

wild-rose !

III.

With mingled sound of horns and bells, A far-heard clang, the wild geese fly, Storm-sent, from Arctic moors and fells, Like a great arrow through the sky, Two dusky lines converged in one, Chasing the southward-flying sun; While the brave snow-bird and the hardy jay Call to them from the pines, as if to bid them stay.

IV.

I passed this way a year ago: The wind blew south; the noon of day Was warm as June's; and save that snow Flecked the low mountains far away, And that the vernal-seeming breeze Mocked faded grass and leafless trees, I might have dreamed of summer as I lay, Watching the fallen leaves with the soft wind at play.

v.

Since then, the winter blasts have piled

The white pagodas of the snow

On these rough slopes, and, strong and wild, Yon river, in its overflow

1 on river, in its overnow

Of spring-time rain and sun, set free,

Crashed with its ices to the sea;

And over these gray fields, then green and gold,

The summer corn has waved, the thunder's organ rolled.

VI.

Rich gift of God! A year of time! What pomp of rise and shut of day, What hues wherewith our Northern clime Makes autumn's dropping woodlands gay, What airs outblown from ferny dells, And clover-bloom and sweetbrier smells, What songs of brooks and birds, what fruits and flowers, Green woods and moonlit snows, have in its round

Green woods and moonlit snows, have in its round been ours!

VII.

I know not how, in other lands, The changing seasons come and go; What splendors fall on Syrian sands, What purple lights on Alpine snow ! Nor how the pomp of sunrise waits On Venice at her watery gates ; A dream alone to me is Arno's vale, And the Alhambra's halls are but a traveller's tale.

VIII.

Yet, on life's current, he who drifts Is one with him who rows or sails; And he who wanders widest lifts No more of beauty's jealous veils Than he who from his doorway sees The miracle of flowers and trees, Feels the warm Orient in the noonday air, And from cloud minarets hears the sunset call to prayer!

IX.

The eye may well be glad that looks

Where Pharpar's fountains rise and fall;

But he who sees his native brooks

Laugh in the sun, has seen them all.

The marble palaces of Ind

Rise round him in the snow and wind;

From his lone sweetbrier Persian Hafiz smiles,

And Rome's cathedral awe is in his woodland aisles.

х.

And thus it is my fancy blends The near at hand and far and rare; And while the same horizon bends Above the silver-sprinkled hair Which flashed the light of morning skies On childhood's wonder-lifted eyes, Within its round of sea and sky and field, Earth wheels with all her zones, the Kosmos stands revealed.

XI.

And thus the sick man on his bed, The toiler to his task-work bound, Behold their prison-walls outspread, Their clipped horizon widen round ! While freedom-giving fancy waits, Like Peter's angel at the gates, The power is theirs to baffle care and pain, To bring the lost world back, and make it theirs again !

XII.

What lack of goodly company, When masters of the ancient lyre Obey my call, and trace for me Their words of mingled tears and fire ! I talk with Bacon, grave and wise, I read the world with Pascal's eyes ; And priest and sage, with solemn brows austere, And poets, garland-bound, the Lords of Thought, draw near.

XIII.

Methinks, O friend, I hear thee say, "In vain the human heart we mock; Bring living guests who love the day, Not ghosts who fly at crow of cock! The herbs we share with flesh and blood Are better than ambrosial food With laurelled shades." I grant it, nothing loath.

But doubly blest is he who can partake of both.

XIV.

He who might Plato's banquet grace, Have I not seen before me sit, And watched his puritanic face, With more than Eastern wisdom lit? Shrewd mystic! who, upon the back

Of his Poor Richard's Almanac,

Writing the Sufi's song, the Gentoo's dream,

Links Manu's age of thought to Fulton's age of steam !

xv.

Here too, of answering love secure, Have I not welcomed to my hearth The gentle pilgrim troubadour,

Whose songs have girdled half the earth; Whose pages, like the magic mat

W nose pages, like the magic ma

Whereon the Eastern lover sat, Have borne me over Rhine-land's purple vines,

And Nubia's tawny sands, and Phrygia's mountain pines!

XVI.

And he, who to the lettered wealth Of ages adds the lore unpriced, The wisdom and the moral health, The ethics of the school of Christ; The statesman to his holy trust, As the Athenian archon, just, Struck down, exiled like him for truth alone, Has he not graced my home with beauty all his own?

XVII.

What greetings smile, what farewells wave, What loved ones enter and depart !

The good, the beautiful, the brave,

The Heaven-lent treasures of the heart ! How conscious seems the frozen sod

And beechen slope whereon they trod !

The oak-leaves rustle, and the dry grass bends

Beneath the shadowy feet of lost or absent friends.

XVIII.

Then ask not why to these bleak hills I cling, as clings the tufted moss, To bear the winter's lingering chills, The mocking spring's perpetual loss. I dream of lands where summer smiles, And soft winds blow from spicy isles, But scarce would Ceylon's breath of flowers be sweet, Could I not feel thy soil, New England, at my

feet !

XIX.

At times I long for gentler skies, And bathe in dreams of softer air, But homesick tears would fill the eyes That saw the Cross without the Bear. The pine must whisper to the palm, The north-wind break the tropic calm; And with the dreamy languor of the Line, The North's keen virtue blend, and strength to beauty join.

XX.

Better to stem with heart and hand The roaring tide of life, than lie, Unmindful, on its flowery strand, Of God's occasions drifting by! Better with naked nerve to bear The needles of this goading air, Than, in the lap of sensual ease, forego The godlike power to do, the godlike aim to know.

XXI.

Home of my heart! to me more fair Than gay Versailles or Windsor's halls,

The painted, shingly town-house where

The freeman's vote for Freedom falls!

The simple roof where prayer is made,

Than Gothic groin and colonnade;

The living temple of the heart of man,

Than Rome's sky-mocking vault, or many-spired Milan!

XXII.

More dear thy equal village schools, Where rich and poor the Bible read, Than classic halls where Priestcraft rules,

And Learning wears the chains of Creed; Thy glad Thanksgiving, gathering in

The scattered sheaves of home and kin, Than the mad license ushering Lenten pains, Or holidays of slaves who laugh and dance in chains.

XXIII.

And sweet homes nestle in these dales,

And perch along these wooded swells;

And, blest beyond Arcadian vales,

They hear the sound of Sabbath bells ! Here dwells no perfect man sublime,

Nor woman winged before her time,

But with the faults and follies of the race.

Old home-bred virtues hold their not unhonored place.

XXIV.

Here manhood struggles for the sake Of mother, sister, daughter, wife, The graces and the loves which make The music of the march of life: And woman, in her daily round Of duty, walks on holy ground. No unpaid menial tills the soil, nor here Is the bad lesson learned at human rights to sneer.

XXV.

Then let the icy north-wind blow The trumpets of the coming storm, To arrowy sleet and blinding snow Yon slanting lines of rain transform. Young hearts shall hail the drifted cold, As gavly as I did of old ; And I, who watch them through the frosty pane,

Unenvious, live in them my boyhood o'er again.

XXVI.

And I will trust that He who heeds The life that hides in mead and wold, Who hangs yon alder's crimson beads, And stains these mosses green and gold, Will still, as He hath done, incline His gracious care to me and mine ; Grant what we ask aright, from wrong debar, And, as the earth grows dark, make brighter every star !

XXVII.

I have not seen, I may not see,

My hopes for man take form in fact,

But God will give the victory

In due time; in that faith I act.

And he who sees the future sure,

The baffling present may endure,

And bless, meanwhile, the unseen Hand that leads

The heart's desires beyond the halting step of deeds.

XXVIII.

And thou, my song, I send thee forth,

Where harsher songs of mine have flown;

Go, find a place at home and hearth

Where'er thy singer's name is known;

Revive for him the kindly thought

Of friends; and they who love him not,

Touched by some strain of thine, perchance may take

The hand he proffers all, and thank him for thy sake.

1857.

THE FIRST FLOWERS.

FOR ages on our river borders, These tassels in their tawny bloom, And willowy studs of downy silver, Have prophesied of Spring to come. For ages have the unbound waters Smiled on them from their pebbly hem, And the clear carol of the robin And song of bluebird welcomed them.

But never yet from smiling river, Or song of early bird, have they Been greeted with a gladder welcome Than whispers from my heart to-day.

They break the spell of cold and darkness, The weary watch of sleepless pain; And from my heart, as from the river, The ice of winter melts again.

Thanks, Mary! for this wild-wood token Of Freya's footsteps drawing near; Almost, as in the rune of Asgard, The growing of the grass I hear.

It is as if the pine-trees called me From ceilëd room and silent books, To see the dance of woodland shadows, And hear the song of April brooks!

As in the old Teutonic ballad Of Odenwald live bird and tree, Together live in bloom and music, I blend in song thy flowers and thee.

Earth's rocky tablets bear forever The dint of rain and small bird's track : Who knows but that my idle verses May leave some trace by Merrimac!

The bird that trod the mellow layers Of the young earth is sought in vain; The cloud is gone that wove the sandstone, From God's design, with threads of rain!

So, when this fluid age we live in Shall stiffen round my careless rhyme, Who made the vagrant tracks may puzzle The savants of the coming time;

And, following out their dim suggestions, Some idly-curious hand may draw My doubtful portraiture, as Cuvier Drew fish and bird from fin and claw.

And maidens in the far-off twilights, Singing my words to breeze and stream, Shall wonder if the old-time Mary Were real, or the rhymer's dream !

1st 3d mo., 1857.

THE OLD BURYING-GROUND.

OUR vales are sweet with fern and rose, Our hills are maple-crowned; But not from them our fathers chose The village burying-ground.

The dreariest spot in all the land To Death they set apart; With scanty grace from Nature's hand, And none from that of Art.



The Old Burying-Ground

THE LONG THE DESIGN AND THE PARTY OF THE PAR

energia de la provincia de la p

and the second sec

Land any discontraction in Conference of Conference

It has a first or it.
 It is a first or it.
 It is a first or it.
 It is a first or it.

and the other

a second s

Same Sheet





THE OLD BURYING-GROUND

A winding wall of mossy stone, Frost-flung and broken, lines

A lonesome acre thinly grown With grass and wandering vines.

Without the wall a birch-tree shows Its drooped and tasselled head; Within, a stag-horned sumach grows, Fern-leafed, with spikes of red.

There, sheep that graze the neighboring plain Like white ghosts come and go, The farm-horse drags his fetlock chain, The cow-bell tinkles slow.

Low moans the river from its bed, The distant pines reply; Like mourners shrinking from the dead, They stand apart and sigh.

Unshaded smites the summer sun, Unchecked the winter blast; The school-girl learns the place to shun, With glances backward cast.

For thus our fathers testified, That he might read who ran, The emptiness of human pride, The nothingness of man.

They dared not plant the grave with flowers, Nor dress the funeral sod, Where, with a love as deep as ours, They left their dead with God.

The hard and thorny path they kept From beauty turned aside; Nor missed they over those who slept The grace to life denied.

Yet still the wilding flowers would blow, The golden leaves would fall, The seasons come, the seasons go, And God be good to all.

Above the graves the blackberry hung In bloom and green its wreath, And harebells swung as if they rung The chimes of peace beneath.

The beauty Nature loves to share, The gifts she hath for all,

The common light, the common air, O'ercrept the graveyard's wall.

It knew the glow of eventide, The sunrise and the noon, And glorified and sanctified It slept beneath the moon.

With flowers or snow-flakes for its sod, Around the seasons ran,

And evermore the love of God Rebuked the fear of man.

We dwell with fears on either hand, Within a daily strife,

And spectral problems waiting stand Before the gates of life.

50

THE OLD BURYING-GROUND

The doubts we vainly seek to solve, The truths we know, are one; The known and nameless stars revolve Around the Central Sun.

And if we reap as we have sown, And take the dole we deal, The law of pain is love alone, The wounding is to heal.

Unharmed from change to change we glide, We fall as in our dreams; The far-off terror at our side A smiling angel seems.

Secure on God's all-tender heart Alike rest great and small; Why fear to lose our little part,

When He is pledged for all?

O fearful heart and troubled brain ! Take hope and strength from this, — That Nature never hints in vain, Nor prophesies amiss.

Her wild birds sing the same sweet stave, Her lights and airs are given Alike to playground and the grave; And over both is Heaven. 1859.

THE PALM-TREE.

Is it the palm, the cocoa-palm, On the Indian Sea, by the isles of balm? Or is it a ship in the breezeless calm?

A ship whose keel is of palm beneath, Whose ribs of palm have a palm-bark sheath, And a rudder of palm it steereth with.

Branches of palm are its spars and rails, Fibres of palm are its woven sails, And the rope is of palm that idly trails !

What does the good ship bear so well? The cocoa-nut with its stony shell, And the milky sap of its inner cell.

What are its jars, so smooth and fine, But hollowed nuts, filled with oil and wine, And the cabbage that ripens under the Line?

Who smokes his nargileh, cool and calm? The master, whose cunning and skill could charm Cargo and ship from the bounteous palm.

In the cabin he sits on a palm-mat soft, From a beaker of palm his drink is quaffed, And a palm-thatch shields from the sun aloft!

His dress is woven of palmy strands, And he holds a palm-leaf scroll in his hands, Traced with the Prophet's wise commands!

THE RIVER PATH

The turban folded about his head Was daintily wrought of the palm-leaf braid, And the fan that cools him of palm was made.

Of threads of palm was the carpet spun Whereon he kneels when the day is done, And the foreheads of Islam are bowed as one !

To him the palm is a gift divine, Wherein all uses of man combine, — House, and raiment, and food, and wine !

And, in the hour of his great release, His need of the palm shall only cease With the shroud wherein he lieth in peace.

" Allah il Allah ! " he sings his psalm, On the Indian Sea, by the isles of balm; " Thanks to Allah who gives the palm ! " 1858.

THE RIVER PATH.

No bird-song floated down the hill, The tangled bank below was still;

No rustle from the birchen stem, No ripple from the water's hem.

The dusk of twilight round us grew, We felt the falling of the dew;

For, from us, ere the day was done, The wooded hills shut out the sun.

But on the river's farther side We saw the hill-tops glorified, ----

A tender glow, exceeding fair, A dream of day without its glare.

With us the damp, the chill, the gloom : With them the sunset's rosy bloom ;

While dark, through willowy vistas seen, The river rolled in shade between.

From out the darkness where we trod, We gazed upon those hills of God,

Whose light seemed not of moon or sun. We spake not, but our thought was one.

We paused, as if from that bright shore Beckoned our dear ones gone before;

And stilled our beating hearts to hear The voices lost to mortal ear!

Sudden our pathway turned from night; The hills swung open to the light;

Through their green gates the sunshine showed, A long, slant splendor downward flowed.

MOUNTAIN PICTURES

Down glade and glen and bank it rolled; It bridged the shaded stream with gold;

And, borne on piers of mist, allied The shadowy with the sunlit side!

"So," prayed we, " when our feet draw near The river dark, with mortal fear,

"And the night cometh chill with dew, O Father! let Thy light break through!

"So let the hills of doubt divide, So bridge with faith the sunless tide!

"So let the eyes that fail on earth On Thy eternal hills look forth;

"And in Thy beckoning angels know The dear ones whom we loved below!"

1860.

MOUNTAIN PICTURES.

I. FRANCONIA FROM THE PEMIGEWASSET.

ONCE more, O Mountains of the North, unveil Your brows, and lay your cloudy mantles by! And once more, ere the eyes that seek ye fail, Uplift against the blue walls of the sky Your mighty shapes, and let the sunshine weave Its golden net-work in your belting woods,

Smile down in rainbows from your falling floods,

And on your kingly brows at morn and eve

Set crowns of fire ! So shall my soul receive Haply the secret of your calm and strength,

Your unforgotten beauty interfuse

My common life, your glorious shapes and hues

And sun-dropped splendors at my bidding come, Loom vast through dreams, and stretch in bil-

lowy length

From the sea-level of my lowland home !

They rise before me! Last night's thunder-gust Roared not in vain : for where its lightnings thrust Their tongues of fire, the great peaks seem so near,

Burned clean of mist, so starkly bold and clear, I almost pause the wind in the pines to hear, The loose rock's fall, the steps of browsing deer. The clouds that shattered on yon slide-worn walls

And splintered on the rocks their spears of rain Have set in play a thousand waterfalls, Making the dusk and silence of the woods Glad with the laughter of the chasing floods, And luminous with blown spray and silver gleams, While, in the vales below, the dry-lipped streams

Sing to the freshened meadow-lands again.

So, let me hope, the battle-storm that beats The land with hail and fire may pass away

With its spent thunders at the break of day, Like last night's clouds, and leave, as it retreats,

A greener earth and fairer sky behind,

Blown crystal-clear by Freedom's Northern wind !

MOUNTAIN PICTURES

II. MONADNOCK FROM WACHUSET.

I would I were a painter, for the sake Of a sweet picture, and of her who led, A fitting guide, with reverential tread,
Into that mountain mystery. First a lake Tinted with sunset; next the wavy lines Of far receding hills; and yet more far, Monadnock lifting from his night of pines His rosy forehead to the evening star.
Beside us, purple-zoned, Wachuset laid
His head against the West, whose warm light made His aureole; and o'er him, sharp and clear,
Like a shaft of lightning in mid-launching stayed, A single level cloud-line, shone upon By the fierce glances of the sunken sun, Menaced the darkness with its golden spear !

So twilight deepened round us. Still and black The great woods climbed the mountain at our back;

And on their skirts, where yet the lingering day On the shorn greenness of the clearing lay,

- The brown old farm-house like a bird's-nest hung.
- With home-life sounds the desert air was stirred: The bleat of sheep along the hill we heard,

The bucket plashing in the cool, sweet well,

- The pasture-bars that clattered as they fell;
- Dogs barked, fowls fluttered, cattle lowed; the gate

Of the barn-yard creaked beneath the merry weight

Of sun-brown children, listening, while they swung,

The welcome sound of supper-call to hear ;

And down the shadowy lane, in tinklings clear,

The pastoral curfew of the cow-bell rung.

Thus soothed and pleased, our backward path we took,

Praising the farmer's home. He only spake, Looking into the sunset o'er the lake,

Like one to whom the far-off is most near: "Yes, most folks think it has a pleasant look;

I love it for my good old mother's sake,

Who lived and died here in the peace of God!"

The lesson of his words we pondered o'er, As silently we turned the eastern flank Of the mountain, where its shadow deepest sank, Doubling the night along our rugged road : We felt that man was more than his abode. —

The inward life than Nature's raiment more ; And the warm sky, the sundown-tinted hill,

The forest and the lake, seemed dwarfed and dim

Before the saintly soul, whose human will

Meekly in the Eternal footsteps trod,

Making her homely toil and household ways

An earthly echo of the song of praise

Swelling from angel lips and harps of seraphim.

1862.

THE VANISHERS.

SWEETEST of all childlike dreams In the simple Indian lore Still to me the legend seems Of the shapes who flit before.

Flitting, passing, seen and gone, Never reached nor found at rest, Baffling search, but beckoning on To the Sunset of the Blest.

From the clefts of mountain rocks, Through the dark of lowland firs, Flash the eyes and flow the locks Of the mystic Vanishers !

And the fisher in his skiff, And the hunter on the moss, Hear their call from cape and cliff, See their hands the birch-leaves toss.

Wistful, longing, through the green Twilight of the clustered pines,

In their faces rarely seen Beauty more than mortal shines.

Fringed with gold their mantles flow On the slopes of westering knolls; In the wind they whisper low Of the Sunset Land of Souls. Doubt who may, O friend of mine ! Thou and I have seen them too; On before with beck and sign Still they glide, and we pursue.

More than clouds of purple trail In the gold of setting day; More than gleams of wing or sail Beckon from the sea-mist gray.

Glimpses of immortal youth, Gleams and glories seen and flown, Far-heard voices sweet with truth, Airs from viewless Eden blown;

Beauty that eludes our grasp, Sweetness that transcends our taste, Loving hands we may not clasp, Shining feet that mock our haste;

Gentle eyes we closed below, Tender voices heard once more, Smile and call us, as they go On and onward, still before.

Guided thus, O friend of mine! Let us walk our little way, Knowing by each beckoning sign That we are not quite astray.

Chase we still, with baffled feet, Smiling eye and waving hand,

THE PAGEANT

Sought and seeker soon shall meet, Lost and found, in Sunset Land! 1864.

THE PAGEANT.

- A SOUND as if from bells of silver, Or elfin cymbals smitten clear, Through the frost-pictured panes I hear.
- A brightness which outshines the morning, A splendor brooking no delay, Beckons and tempts my feet away.
- I leave the trodden village highway For virgin snow-paths glimmering through A jewelled elm-tree avenue ;
- Where, keen against the walls of sapphire, The gleaming tree-bolls, ice-embossed, Hold up their chandeliers of frost.
- I tread in Orient halls enchanted, I dream the Saga's dream of caves Gem-lit beneath the North Sea waves!
- I walk the land of Eldorado, I touch its mimic garden bowers, Its silver leaves and diamond flowers!
- The flora of the mystic mine-world Around me lifts on crystal stems The petals of its clustered gems!

What miracle of weird transforming In this wild work of frost and light, This glimpse of glory infinite!

This foregleam of the Holy City Like that to him of Patmos given, The white bride coming down from heaven!

How flash the ranked and mail-clad alders, Through what sharp-glancing spears of reeds The brook its muffled water leads !

Yon maple, like the bush of Horeb, Burns unconsumed : a white, cold fire Rays out from every grassy spire.

Each slender rush and spike of mullein, Low laurel shrub and drooping fern, Transfigured, blaze where'er I turn.

How yonder Ethiopian hemlock Crowned with his glistening circlet stands ! What jewels light his swarthy hands !

Here, where the forest opens southward, Between its hospitable pines, As through a door, the warm sun shines.

The jewels loosen on the branches, And lightly, as the soft winds blow, Fall, tinkling, on the ice below.

- And through the clashing of their cymbals I hear the old familiar fall Of water down the rocky wall,
- Where, from its wintry prison breaking, In dark and silence hidden long, The brook repeats its summer song.
- One instant flashing in the sunshine, Keen as a sabre from its sheath, Then lost again the ice beneath.
- I hear the rabbit lightly leaping, The foolish screaming of the jay, The chopper's axe-stroke far away;
- The clamor of some neighboring barn-yard, The lazy cock's belated crow, Or cattle-tramp in crispy snow.
- And, as in some enchanted forest The lost knight hears his comrades sing, And, near at hand, their bridles ring, —
- So welcome I these sounds and voices, These airs from far-off summer blown, This life that leaves me not alone.
- For the white glory overawes me; The crystal terror of the seer Of Chebar's vision blinds me here.

Rebuke me not, O sapphire heaven ! Thou stainless earth, lay not on me, Thy keen reproach of purity,

If, in this august presence-chamber, I sigh for summer's leaf-green gloom And warm airs thick with odorous bloom!

Let the strange frost-work sink and crumble, And let the loosened tree-boughs swing, Till all their bells of silver ring.

Shine warmly down, thou sun of noontime, On this chill pageant, melt and move The winter's frozen heart with love.

And, soft and low, thou wind south-blowing, Breathe through a veil of tenderest haze Thy prophecy of summer days.

Come with thy green relief of promise, And to this dead, cold splendor bring The living jewels of the spring! 1869.

THE PRESSED GENTIAN.

THE time of gifts has come again, And, on my northern window-pane, Outlined against the day's brief light, A Christmas token hangs in sight.

THE PRESSED GENTIAN

The wayside travellers, as they pass, Mark the gray disk of clouded glass; And the dull blankness seems, perchance, Folly to their wise ignorance.

They cannot from their outlook see The perfect grace it hath for me; For there the flower, whose fringes through The frosty breath of autumn blew, Turns from without its face of bloom To the warm tropic of my room, As fair as when beside its brook The hue of bending skies it took.

So from the trodden ways of earth, Seem some sweet souls who veil their worth, And offer to the careless glance The clouding gray of circumstance. They blossom best where hearth-fires burn, To loving eyes alone they turn The flowers of inward grace, that hide Their beauty from the world outside.

But deeper meanings come to me, My half-immortal flower, from thee ! Man judges from a partial view, None ever yet his brother knew; The Eternal Eye that sees the whole May better read the darkened soul, And find, to outward sense denied, The flower upon its inmost side ! 1872.

VOL. 11. 5

A MYSTERY.

THE river hemmed with leaning trees Wound through its meadows green;

A low, blue line of mountains showed The open pines between.

One sharp, tall peak above them all Clear into sunlight sprang :

I saw the river of my dreams, The mountains that I sang !

No clue of memory led me on, But well the ways I knew; A feeling of familiar things With every footstep grew.

Not otherwise above its crag Could lean the blasted pine; Not otherwise the maple hold Aloft its red ensign.

So up the long and shorn foot-hills The mountain road should creep; So, green and low, the meadow fold Its red-haired kine asleep.

The river wound as it should wind; Their place the mountains took; The white torn fringes of their clouds Wore no unwonted look.

A SEA DREAM

Yet ne'er before that river's rim Was pressed by feet of mine, Never before mine eyes had crossed That broken mountain line.

A presence, strange at once and known, Walked with me as my guide; The skirts of some forgotten life Trailed noiseless at my side.

Was it a dim-remembered dream? Or glimpse through zons old? The secret which the mountains kept The river never told.

But from the vision ere it passed A tender hope I drew, And, pleasant as a dawn of spring, The thought within me grew,

That love would temper every change, And soften all surprise, And, misty with the dreams of earth, The hills of Heaven arise. 1873.

A SEA DREAM.

WE saw the slow tides go and come, The curving surf-lines lightly drawn, The gray rocks touched with tender bloom Beneath the fresh-blown rose of dawn.

We saw in richer sunsets lost The sombre pomp of showery noons; And signalled spectral sails that crossed The weird, low light of rising moons.

On stormy eves from cliff and head We saw the white spray tossed and spurned; While over all, in gold and red, Its face of fire the lighthouse turned.

The rail-car brought its daily crowds, Half curious, half indifferent, Like passing sails or floating clouds, We saw them as they came and went.

But, one calm morning, as we lay And watched the mirage-lifted wall Of coast, across the dreamy bay, And heard afar the curlew call,

And nearer voices, wild or tame, Of airy flock and childish throng, Up from the water's edge there came Faint snatches of familiar song.

Careless we heard the singer's choice Of old and common airs; at last The tender pathos of his voice In one low chanson held us fast.

A song that mingled joy and pain, And memories old and sadly sweet;

While, timing to its minor strain, The waves in lapsing cadence beat.

The waves are glad in breeze and sun; The rocks are fringed with foam; I walk once more a haunted shore, A stranger, yet at home, A land of dreams I roam.

Is this the wind, the soft sea-wind That stirred thy locks of brown? Are these the rocks whose mosses knew The trail of thy light gown, Where boy and girl sat down?

I see the gray fort's broken wall, The boats that rock below; And, out at sea, the passing sails We saw so long ago Rose-red in morning's glow.

The freshness of the early time On every breeze is blown; As glad the sea, as blue the sky, — The change is ours alone; The saddest is my own.

A stranger now, a world-worn man, Is he who bears my name; But thou, methinks, whose mortal life Immortal youth became, Art evermore the same.

Thou art not here, thou art not there, Thy place I cannot see; I only know that where thou art The blessed angels be, And heaven is glad for thee.

Forgive me if the evil years Have left on me their sign; Wash out, O soul so beautiful, The many stains of mine In tears of love divine!

I could not look on thee and live, If thou wert by my side; The vision of a shining one, The white and heavenly bride, Is well to me denied.

But turn to me thy dear girl-face Without the angel's crown, The wedded roses of thy lips, Thy loose hair rippling down In waves of golden brown.

Look forth once more through space and time, And let thy sweet shade fall In tenderest grace of soul and form On memory's frescoed wall, A shadow, and yet all!

Draw near, more near, forever dear ! Where'er I rest or roam, Or in the city's crowded streets,

A SEA DREAM

Or by the blown sea foam, The thought of thee is home!

At breakfast hour the singer read The city news, with comment wise, Like one who felt the pulse of trade Beneath his finger fall and rise.

His look, his air, his curt speech, told The man of action, not of books, To whom the corners made in gold And stocks were more than seaside nooks.

Of life beneath the life confessed His song had hinted unawares; Of flowers in traffic's ledgers pressed, Of human hearts in bulls and bears.

But eyes in vain were turned to watch That face so hard and shrewd and strong; And ears in vain grew sharp to catch The meaning of that morning song.

In vain some sweet-voiced querist sought To sound him, leaving as she came; Her baited album only caught A common, unromantic name.

No word betrayed the mystery fine, That trembled on the singer's tongue; He came and went, and left no sign Behind him save the song he sung. 1874.

HAZEL BLOSSOMS.

THE summer warmth has left the sky, The summer songs have died away;

And, withered, in the footpaths lie The fallen leaves, but yesterday With ruby and with topaz gay.

The grass is browning on the hills; No pale, belated flowers recall The astral fringes of the rills, And drearily the dead vines fall, Frost-blackened, from the roadside wall.

Yet through the gray and sombre wood, Against the dusk of fir and pine, Last of their floral sisterhood, The hazel's yellow blossoms shine, The tawny gold of Afric's mine!

Small beauty hath my unsung flower, For spring to own or summer hail; But, in the season's saddest hour, To skies that weep and winds that wail Its glad surprisals never fail.

O days grown cold! O life grown old! No rose of June may bloom again; But, like the hazel's twisted gold,

Through early frost and latter rain Shall hints of summer-time remain. SUNSET ON THE BEARCAMP

And as within the hazel's bough A gift of mystic virtue dwells, That points to golden ores below, And in dry desert places tells Where flow unseen the cool, sweet wells, —

So, in the wise Diviner's hand, Be mine the hazel's grateful part To feel, beneath a thirsty land, The living waters thrill and start, The beating of the rivulet's heart!

Sufficient me the gift to light With latest bloom the dark, cold days; To call some hidden spring to sight That, in these dry and dusty ways, Shall sing its pleasant song of praise.

O Love! the hazel-wand may fail, But thou canst lend the surer spell, That, passing over Baca's vale, Repeats the old-time miracle, And makes the desert-land a well. 1874.

SUNSET ON THE BEARCAMP.

A GOLD fringe on the purpling hem Of hills the river runs, As down its long, green valley falls The last of summer's suns.

Along its tawny gravel-bed Broad-flowing, swift, and still. As if its meadow levels felt The hurry of the hill. Noiseless between its banks of green From curve to curve it slips; The drowsy maple-shadows rest Like fingers on its lips. A waif from Carroll's wildest hills. Unstoried and unknown; The ursine legend of its name Prowls on its banks alone. Yet flowers as fair its slopes adorn As ever Yarrow knew. Or. under rainy Irish skies. By Spenser's Mulla grew; And through the gaps of leaning trees Its mountain cradle shows : The gold against the amethyst, The green against the rose. Touched by a light that hath no name,

Touched by a light that hath no name, A glory never sung, Aloft on sky and mountain wall Are God's great pictures hung. How changed the summits vast and old ! No longer granite-browed, They melt in rosy mist; the rock Is softer than the cloud; The valley holds its breath; no leaf Of all its elms is twirled : The silence of eternity Seems falling on the world.

The pause before the breaking seals Of mystery is this: Yon miracle-play of night and day Makes dumb its witnesses. What unseen altar crowns the hills That reach up stair on stair? What eyes look through, what white wings fan These purple veils of air? What Presence from the heavenly heights To those of earth stoops down? Not vainly Hellas dreamed of gods On Ida's snowy crown! Slow fades the vision of the sky, The golden water pales, And over all the valley-land A grav-winged vapor sails. I go the common way of all; The sunset fires will burn, The flowers will blow, the river flow, When I no more return. No whisper from the mountain pine Nor lapsing stream shall tell The stranger, treading where I tread, Of him who loved them well. But beauty seen is never lost, God's colors all are fast ; The glory of this sunset heaven Into my soul has passed, A sense of gladness unconfined To mortal date or clime ; As the soul liveth, it shall live Beyond the years of time.

Beside the mystic asphodels Shall bloom the home-born flowers, And new horizons flush and glow With sunset hues of ours.

Farewell ! these smiling hills must wear Too soon their wintry frown,
And snow-cold winds from off them shake The maple's red leaves down.
But I shall see a summer sun Still setting broad and low;
The mountain slopes shall blush and bloom, The golden water flow.
A lover's claim is mine on all I see to have and hold, —
The rose-light of perpetual hills, And sunsets never cold !

1876.

THE SEEKING OF THE WATERFALL.

THEY left their home of summer ease Beneath the lowland's sheltering trees, To seek, by ways unknown to all, The promise of the waterfall.

Some vague, faint rumor to the vale Had crept — perchance a hunter's tale — Of its wild mirth of waters lost On the dark woods through which it tossed.

Somewhere it laughed and sang; somewhere Whirled in mad dance its misty hair;

But who had raised its veil, or seen The rainbow skirts of that Undine?

They sought it where the mountain brook Its swift way to the valley took; Along the rugged slope they clomb, Their guide a thread of sound and foam.

Height after height they slowly won; The fiery javelins of the sun Smote the bare ledge; the tangled shade With rock and vine their steps delayed.

But, through leaf-openings, now and then They saw the cheerful homes of men, And the great mountains with their wall Of misty purple girdling all.

The leaves through which the glad winds blew Shared the wild dance the waters knew; And where the shadows deepest fell The wood-thrush rang his silver bell.

Fringing the stream, at every turn Swung low the waving fronds of fern; From stony cleft and mossy sod Pale asters sprang, and golden-rod.

And still the water sang the sweet, Glad song that stirred its gliding feet, And found in rock and root the keys Of its beguiling melodies.

Beyond, above, its signals flew Of tossing foam the birch-trees through; Now seen, now lost, but baffling still The weary seekers' slackening will.

Each called to each: "Lo here! Lo there! Its white scarf flutters in the air!" They climbed anew; the vision fled, To beckon higher overhead.

So toiled they up the mountain-slope With faint and ever fainter hope; With faint and fainter voice the brook Still bade them listen, pause, and look.

Meanwhile below the day was done; Above the tall peaks saw the sun Sink, beam-shorn, to its misty set Behind the hills of violet.

"Here ends our quest !" the seekers cried, "The brook and rumor both have lied ! The phantom of a waterfall Has led us at its beck and call."

But one, with years grown wiser, said : "So, always baffled, not misled, We follow where before us runs The vision of the shining ones.

"Not where they seem their signals fly, Their voices while we listen die; We cannot keep, however fleet, The quick time of their wingëd feet.

THE SEEKING OF THE WATERFALL 79

- "From youth to age unresting stray These kindly mockers in our way; Yet lead they not, the baffling elves, To something better than themselves?
- "Here, though unreached the goal we sought, Its own reward our toil has brought: The winding water's sounding rush, The long note of the hermit thrush,
- "The turquoise lakes, the glimpse of pond And river track, and, vast, beyond Broad meadows belted round with pines, The grand uplift of mountain lines!
- "What matter though we seek with pain The garden of the gods in vain, If lured thereby we climb to greet Some wayside blossom Eden-sweet?
- "To seek is better than to gain, The fond hope dies as we attain; Life's fairest things are those which seem, The best is that of which we dream.
- "Then let us trust our waterfall Still flashes down its rocky wall, With rainbow crescent curved across Its sunlit spray from moss to moss.
- "And we, forgetful of our pain, In thought shall seek it oft again; Shall see this aster-blossomed sod, This sunshine of the golden-rod,

- "And haply gain, through parting boughs, Grand glimpses of great mountain brows Cloud-turbaned, and the sharp steel sheen Of lakes deep set in valleys green.
- "So failure wins; the consequence Of loss becomes its recompense; And evermore the end shall tell The unreached ideal guided well.
- "Our sweet illusions only die Fulfilling love's sure prophecy ; And every wish for better things An undreamed beauty nearer brings.
- "For fate is servitor of love; Desire and hope and longing prove The secret of immortal youth, And Nature cheats us into truth.
- "O kind allurers, wisely sent, Beguiling with benign intent, Still move us, through divine unrest, To seek the loveliest and the best!
- "Go with us when our souls go free, And, in the clear, white light to be, Add unto Heaven's beatitude The old delight of seeking good !"

^{1878.}

THE TRAILING ARBUTUS.

I WANDERED lonely where the pine-trees made Against the bitter East their barricade, And, guided by its sweet Perfume, I found, within a narrow dell, The trailing spring flower tinted like a shell Amid dry leaves and mosses at my feet.

From under dead boughs, for whose loss the pines Moaned ceaseless overhead, the blossoming vines

Lifted their glad surprise, While yet the bluebird smoothed in leafless trees His feathers ruffled by the chill sea-breeze,

And snow-drifts lingered under April skies.

As, pausing, o'er the lonely flower I bent,

I thought of lives thus lowly, clogged and pent, Which yet find room,

Through care and cumber, coldness and decay, To lend a sweetness to the ungenial day

And make the sad earth happier for their bloom. 1879.

ST. MARTIN'S SUMMER.

This name in some parts of Europe is given to the season we call Indian Summer, in honor of the good St. Martin. The title of the poem was suggested by the fact that the day it refers to was the exact date of that set apart to the Saint, the 11th of November.

THOUGH flowers have perished at the touch Of Frost, the early comer, $v_{\text{Vol. II.}} = \frac{1}{6}$

I hail the season loved so much, The good St. Martin's summer.

O gracious morn, with rose-red dawn, And thin moon curving o'er it !

The old year's darling, latest born, More loved than all before it !

How flamed the sunrise through the pines! How stretched the birchen shadows, Braiding in long, wind-wavered lines The westward sloping meadows!

The sweet day, opening as a flower Unfolds its petals tender, Renews for us at noontide's hour The summer's tempered splendor.

The birds are hushed; alone the wind, That through the woodland searches, The red-oak's lingering leaves can find, And yellow plumes of larches.

But still the balsam-breathing pine Invites no thought of sorrow, No hint of loss from air like wine The earth's content can borrow.

The summer and the winter here Midway a truce are holding, A soft, consenting atmosphere

Their tents of peace enfolding.

ST. MARTIN'S SUMMER

The silent woods, the lonely hills, Rise solemn in their gladness; The quiet that the valley fills Is scarcely joy or sadness.

How strange! The autumn yesterday In winter's grasp seemed dying; On whirling winds from skies of gray

The early snow was flying.

And now, while over Nature's mood There steals a soft relenting,

I will not mar the present good, Forecasting or lamenting.

My autumn time and Nature's hold A dreamy tryst together,

And, both grown old, about us fold The golden-tissued weather.

I lean my heart against the day To feel its bland caressing;

I will not let it pass away Before it leaves its blessing.

God's angels come not as of old The Syrian shepherds knew them ; In reddening dawns, in sunset gold,

And warm noon lights I view them.

Nor need there is, in times like this When heaven to earth draws nearer, Of wing or song as witnesses

To make their presence clearer.

O stream of life, whose swifter flow Is of the end forewarning, Methinks thy sundown afterglow Seems less of night than morning !

Old cares grow light; aside I lay The doubts and fears that troubled; The quiet of the happy day Within my soul is doubled.

That clouds must veil this fair sunshine Not less a joy I find it; Nor less yon warm horizon line That winter lurks behind it.

The mystery of the untried days I close my eyes from reading; His will be done whose darkest ways To light and life are leading!

Less drear the winter night shall be, If memory cheer and hearten Its heavy hours with thoughts of thee, Sweet summer of St. Martin ! 1880.

STORM ON LAKE ASQUAM.

A CLOUD, like that the old-time Hebrew saw On Carmel prophesying rain, began To lift itself o'er wooded Cardigan, Growing and blackening. Suddenly, a flaw

| Of chill wind menaced; then a strong blast beat |
|---|
| Down the long valley's murmuring pines, and woke |
| The noon-dream of the sleeping lake, and broke |
| Its smooth steel mirror at the mountains' feet. |
| Thunderous and vast, a fire-veined darkness swept Over the rough pine-bearded Asquam range; A wraith of tempest, wonderful and strange, From peak to peak the cloudy giant stepped. |
| One moment, as if challenging the storm, Chocorua's tall, defiant sentinel Looked from his watch-tower; then the shadow fell, |
| And the wild rain-drift blotted out his form. |
| And over all the still unhidden sun, Weaving its light through slant-blown veils of rain, |
| Smiled on the trouble, as hope smiles on pain; And, when the tumult and the strife were done, |
| With one foot on the lake and one on land, Framing within his crescent's tinted streak A far-off picture of the Melvin peak, Spent broken clouds the rainbow's angel spanned. 1882. |

A SUMMER PILGRIMAGE.

To kneel before some saintly shrine, To breathe the health of airs divine, Or bathe where sacred rivers flow, The cowled and turbaned pilgrims go. I too, a palmer, take, as they With staff and scallop-shell, my way To feel, from burdening cares and ills, The strong uplifting of the hills.

The years are many since, at first, For dreamed-of wonders all athirst, I saw on Winnipesaukee fall The shadow of the mountain wall. Ah! where are they who sailed with me The beautiful island-studded sea ? And am I he whose keen surprise Flashed out from such unclouded eyes ?

Still, when the sun of summer burns, My longing for the hills returns; And northward, leaving at my back The warm vale of the Merrimac, I go to meet the winds of morn, Blown down the hill-gaps, mountain-born, Breathe scent of pines, and satisfy The hunger of a lowland eye.

Again I see the day decline Along a ridged horizon line;

A SUMMER PILGRIMAGE

Touching the hill-tops, as a nun Her beaded rosary, sinks the sun. One lake lies golden, which shall soon Be silver in the rising moon ; And one, the crimson of the skies And mountain purple multiplies.

With the untroubled quiet blends The distance-softened voice of friends; The girl's light laugh no discord brings To the low song the pine-tree sings; And, not unwelcome, comes the hail Of boyhood from his nearing sail. The human presence breaks no spell, And sunset still is miracle !

Calm as the hour, methinks I feel A sense of worship o'er me steal; Not that of satyr-charming Pan, No cult of Nature shaming man, Not Beauty's self, but that which lives And shines through all the veils it weaves, — Soul of the mountain, lake, and wood, Their witness to the Eternal Good !

And if, by fond illusion, here The earth to heaven seems drawing near, And yon outlying range invites To other and serener heights, Scarce hid behind its topmost swell, The shining Mounts Delectable ! A dream may hint of truth no less Than the sharp light of wakefulness.

POEMS OF NATURE

As through her vale of incense smoke Of old the spell-rapt priestess spoke, More than her heathen oracle, May not this trance of sunset tell That Nature's forms of loveliness Their heavenly archetypes confess, Fashioned like Israel's ark alone From patterns in the Mount made known?

A holier beauty overbroods These fair and faint similitudes; Yet not unblest is he who sees Shadows of God's realities, And knows beyond this masquerade Of shape and color, light and shade, And dawn and set, and wax and wane, Eternal verities remain.

O gems of sapphire, granite set! O hills that charmed horizons fret! I know how fair your morns can break, In rosy light on isle and lake; How over wooded slopes can run The noonday play of cloud and sun, And evening droop her oriflamme Of gold and red in still Asquam.

The summer moons may round again, And careless feet these hills profane; These sunsets waste on vacant eyes The lavish splendor of the skies; Fashion and folly, misplaced here, Sigh for their natural atmosphere,

88

SWEET FERN

And travelled pride the outlook scorn Of lesser heights than Matterhorn :

But let me dream that hill and sky Of unseen beauty prophesy; And in these tinted lakes behold The trailing of the raiment fold Of that which, still eluding gaze, Allures to upward-tending ways, Whose footprints make, wherever found, Our common earth a holy ground. 1883.

SWEET FERN.

THE subtle power in perfume found Nor priest nor sibyl vainly learned; On Grecian shrine or Aztec mound No censer idly burned.

That power the old-time worships knew, The Corybantes' frenzied dance, The Pythian priestess swooning through The wonderland of trance.

And Nature holds, in wood and field, Her thousand sunlit censers still; To spells of flower and shrub we yield Against or with our will.

I climbed a hill path strange and new With slow feet, pausing at each turn;

POEMS OF NATURE

A sudden waft of west wind blew The breath of the sweet fern.

That fragrance from my vision swept The alien landscape; in its stead, Up fairer hills of youth I stepped, As light of heart as tread.

I saw my boyhood's lakelet shine Once more through rifts of woodland shade;

With me June's freshness, lapsing brook, Murmurs of leaf and bee, the call

Of birds, and one in voice and look In keeping with them all.

A fern beside the way we went She plucked, and, smiling, held it up, While from her hand the wild, sweet scent

I drank as from a cup.

O potent witchery of smell ! The dust-dry leaves to life return, And she who plucked them owns the spell And lifts her ghostly fern.

Or sense or spirit? Who shall say What touch the chord of memory thrills? It passed, and left the August day Ablaze on lonely hills.

1884.

90

I knew my river's winding line By morning mist betrayed.

THE WOOD GIANT.

FROM Alton Bay to Sandwich Dome, From Mad to Saco river, For patriarchs of the primal wood We sought with vain endeavor.

And then we said: "The giants old Are lost beyond retrieval;

This pygmy growth the axe has spared Is not the wood primeval.

"Look where we will o'er vale and hill, How idle are our searches For broad-girthed maples, wide-limbed oaks, Centennial pines and birches!

"Their tortured limbs the axe and saw Have changed to beams and trestles; They rest in walls, they float on seas, They rot in sunken vessels.

"This shorn and wasted mountain land Of underbrush and boulder, — Who thinks to see its full-grown tree Must live a century older."

At last to us a woodland path, To open sunset leading, Revealed the Anakim of pines Our wildest wish exceeding.

POEMS OF NATURE

Alone, the level sun before ; Below, the lake's green islands ; Beyond, in misty distance dim, The rugged Northern Highlands.

Dark Titan on his Sunset Hill Of time and change defiant! How dwarfed the common woodland seemed, Before the old-time giant!

What marvel that, in simpler days Of the world's early childhood, Men crowned with garlands, gifts, and praise Such monarchs of the wild-wood?

That Tyrian maids with flower and song Danced through the hill grove's spaces, And hoary-bearded Druids found In woods their holy places ?

With somewhat of that Pagan awe With Christian reverence blending, We saw our pine-tree's mighty arms Above our heads extending.

We heard his needles' mystic rune, Now rising, and now dying, As erst Dodona's priestess heard The oak leaves prophesying.

Was it the half-unconscious moan Of one apart and mateless, The weariness of unshared power, The loneliness of greatness?

92

O dawns and sunsets, lend to him Your beauty and your wonder! Blithe sparrow, sing thy summer song His solemn shadow under!

Play lightly on his slender keys, O wind of summer, waking For hills like these the sound of seas On far-off beaches breaking!

And let the eagle and the crow Find shelter in his branches, When winds shake down his winter snow In silver avalanches.

The brave are braver for their cheer, The strongest need assurance, The sigh of longing makes not less The lesson of endurance. 1885.

A DAY.

TALK not of sad November, when a day Of warm, glad sunshine fills the sky of noon, And a wind, borrowed from some morn of June,

Stirs the brown grasses and the leafless spray.

On the unfrosted pool the pillared pines Lay their long shafts of shadow: the small rill,

Singing a pleasant song of summer still,

A line of silver, down the hill-slope shines.

POEMS OF NATURE

Hushed the bird-voices and the hum of bees, In the thin grass the crickets pipe no more; But still the squirrel hoards his winter store, And drops his nut-shells from the shag-bark trees.

Softly the dark green hemlocks whisper : high Above, the spires of yellowing larches show, Where the woodpecker and home-loving crow And jay and nut-hatch winter's threat defy.

O gracious beauty, ever new and old ! O sights and sounds of nature, doubly dear When the low sunshine warns the closing year Of snow-blown fields and waves of Arctic cold !

Close to my heart I fold each lovely thing The sweet day yields ; and, not disconsolate, With the calm patience of the woods I wait For leaf and blossom when God gives us Spring! 29th, Eleventh Month, 1886.

94

POEMS SUBJECTIVE AND REMINIS-CENT

MEMORIES.

A BEAUTIFUL and happy girl, With step as light as summer air. Eyes glad with smiles, and brow of pearl, Shadowed by many a careless curl Of unconfined and flowing hair; A seeming child in everything, Save thoughtful brow and ripening charms. As Nature wears the smile of Spring When sinking into Summer's arms. A mind rejoicing in the light Which melted through its graceful bower, Leaf after leaf, dew-moist and bright, And stainless in its holy white, Unfolding like a morning flower : A heart, which, like a fine-toned lute, With every breath of feeling woke, And, even when the tongue was mute, From eye and lip in music spoke.

How thrills once more the lengthening chain Of memory, at the thought of thee!

Old hopes which long in dust have lain Old dreams, come thronging back again. And boyhood lives again in me; I feel its glow upon my cheek, Its fulness of the heart is mine, As when I leaned to hear thee speak, Or raised my doubtful eye to thine. I hear again thy low replies. I feel thy arm within my own, And timidly again uprise The fringëd lids of hazel eyes, With soft brown tresses overblown. Ah! memories of sweet summer eyes. Of moonlit wave and willowy way, Of stars and flowers, and dewy leaves, And smiles and tones more dear than they ! Ere this, thy quiet eye hath smiled My picture of thy youth to see, When, half a woman, half a child, Thy very artlessness beguiled. And folly's self seemed wise in thee; I too can smile, when o'er that hour The lights of memory backward stream. Yet feel the while that manhood's power Is vainer than my boyhood's dream.

Years have passed on, and left their trace, Of graver care and deeper thought; And unto me the calm, cold face Of manhood, and to thee the grace Of woman's pensive beauty brought. More wide, perchance, for blame than praise, The school-boy's humble name has flown; Thine, in the green and quiet ways Of unobtrusive goodness known. And wider yet in thought and deed Diverge our pathways, one in youth; Thine the Genevan's sternest creed. While answers to my spirit's need The Derby dalesman's simple truth. For thee, the priestly rite and praver. And holy day, and solemn psalm; For me, the silent reverence where My brethren gather, slow and calm. Yet hath thy spirit left on me An impress Time has worn not out, And something of myself in thee. A shadow from the past, I see. Lingering, even yet, thy way about; Not wholly can the heart unlearn That lesson of its better hours, Not yet has Time's dull footstep worn To common dust that path of flowers. Thus, while at times before our eyes

The shadows melt, and fall apart, And, smiling through them, round us lies The warm light of our morning skies, —

The Indian Summer of the heart ! In secret sympathies of mind,

In founts of feeling which retain vol. 11. 7

98

Their pure, fresh flow, we yet may find Our early dreams not wholly vain ! 1841.

RAPHAEL.

Suggested by the portrait of Raphael, at the age of fifteen.

I SHALL not soon forget that sight: The glow of Autumn's westering day, A hazy warmth, a dreamy light, On Raphael's picture lay.

It was a simple print I saw, The fair face of a musing boy; Yet, while I gazed, a sense of awe Seemed blending with my joy.

A simple print, — the graceful flow Of boyhood's soft and wavy hair, And fresh young lip and cheek, and brow Unmarked and clear, were there.

Yet through its sweet and calm repose I saw the inward spirit shine; It was as if before me rose The white yeil of a shrine.

As if, as Gothland's sage has told, The hidden life, the man within, Dissevered from its frame and mould, By mortal eye were seen.

RAPHAEL

Was it the lifting of that eye, The waving of that pictured hand ? Loose as a cloud-wreath on the sky, I saw the walls expand.

The narrow room had vanished, — space, Broad, luminous, remained alone, Through which all hues and shapes of grace And beauty looked or shone.

Around the mighty master came The marvels which his pencil wrought, Those miracles of power whose fame Is wide as human thought.

There drooped thy more than mortal face, O Mother, beautiful and mild! Enfolding in one dear embrace Thy Saviour and thy Child!

The rapt brow of the Desert John; The awful glory of that day When all the Father's brightness shone Through manhood's veil of clay.

And, midst gray prophet forms, and wild Dark visions of the days of old, How sweetly woman's beauty smiled

Through locks of brown and gold !

There Fornarina's fair young face Once more upon her lover shone, Whose model of an angel's grace He borrowed from her own.

Slow passed that vision from my view, But not the lesson which it taught; The soft, calm shadows which it threw Still rested on my thought:

The truth, that painter, bard, and sage, Even in Earth's cold and changeful clime, Plant for their deathless heritage The fruits and flowers of time.

We shape ourselves the joy or fear Of which the coming life is made, And fill our Future's atmosphere With sunshine or with shade.

The tissue of the Life to be We weave with colors all our own, And in the field of Destiny We reap as we have sown.

Still shall the soul around it call The shadows which it gathered here, And, painted on the eternal wall, The Past shall reappear.

Think ye the notes of holy song On Milton's tuneful ear have died? Think ye that Raphael's angel throng Has vanished from his side?

Oh no! — We live our life again; Or warmly touched, or coldly dim,

EGO

The pictures of the Past remain, — Man's works shall follow him !

1842.

EGO.

WRITTEN IN THE ALBUM OF A FRIEND.

On page of thine I cannot trace The cold and heartless commonplace, A statue's fixed and marble grace.

For ever as these lines I penned, Still with the thought of thee will blend That of some loved and common friend,

Who in life's desert track has made His pilgrim tent with mine, or strayed Beneath the same remembered shade.

And hence my pen unfettered moves In freedom which the heart approves, The negligence which friendship loves.

And wilt thou prize my poor gift less For simple air and rustic dress, And sign of haste and carelessness?

Oh, more than specious counterfeit Of sentiment or studied wit, A heart like thine should value it.

Yet half I fear my gift will be Unto thy book, if not to thee, Of more than doubtful courtesy.

A banished name from Fashion's sphere, A lay unheard of Beauty's ear, Forbid, disowned, — what do they here?

Upon my ear not all in vain Came the sad captive's clanking chain, The groaning from his bed of pain.

And sadder still, I saw the woe Which only wounded spirits know When Pride's strong footsteps o'er them go.

Spurned not alone in walks abroad, But from the temples of the Lord Thrust out apart, like things abhorred.

Deep as I felt, and stern and strong, In words which Prudence smothered long, My soul spoke out against the wrong;

Not mine alone the task to speak Of comfort to the poor and weak, And dry the tear on Sorrow's cheek;

But, mingled in the conflict warm, To pour the fiery breath of storm Through the harsh trumpet of Reform ; To brave Opinion's settled frown, From ermined robe and saintly gown, While wrestling reverenced Error down.

Founts gushed beside my pilgrim way, Cool shadows on the greensward lay, Flowers swung upon the bending spray.

And, broad and bright, on either hand, Stretched the green slopes of Fairy-land, With Hope's eternal sunbow spanned;

Whence voices called me like the flow, Which on the listener's ear will grow, Of forest streamlets soft and low.

And gentle eyes, which still retain Their picture on the heart and brain, Smiled, beckoning from that path of pain.

In vain ! nor dream, nor rest, nor pause Remain for him who round him draws The battered mail of Freedom's cause.

From youthful hopes, from each green spot Of young Romance, and gentle Thought, Where storm and tumult enter not;

From each fair altar, where belong The offerings Love requires of Song In homage to her bright-eyed throng;

With soul and strength, with heart and hand, I turned to Freedom's struggling band, To the sad Helots of our land.

What marvel then that Fame should turn Her notes of praise to those of scorn; Her gifts reclaimed, her smiles withdrawn?

What matters it ? a few years more, Life's surge so restless heretofore Shall break upon the unknown shore !

In that far land shall disappear The shadows which we follow here, The mist-wreaths of our atmosphere!

Before no work of mortal hand, Of human will or strength expand The pearl gates of the Better Land;

Alone in that great love which gave Life to the sleeper of the grave, Resteth the power to seek and save.

Yet, if the spirit gazing through The vista of the past can view One deed to Heaven and virtue true;

If through the wreck of wasted powers, Of garlands wreathed from Folly's bowers, Of idle aims and misspent hours, The eye can note one sacred spot By Pride and Self profanëd not, A green place in the waste of thought,

Where deed or word hath rendered less The sum of human wretchedness, And Gratitude looks forth to bless;

The simple burst of tenderest feeling From sad hearts worn by evil-dealing, For blessing on the hand of healing;

Better than Glory's pomp will be That green and blessed spot to me, A palm-shade in Eternity!

Something of Time which may invite The purified and spiritual sight To rest on with a calm delight.

And when the summer winds shall sweep With their light wings my place of sleep, And mosses round my headstone creep;

If still, as Freedom's rallying sign, Upon the young heart's altars shine The very fires they caught from mine;

If words my lips once uttered still, In the calm faith and steadfast will Of other hearts, their work fulfil;

Perchance with joy the soul may learn These tokens, and its eye discern The fires which on those altars burn;

A marvellous joy that even then, The spirit hath its life again, In the strong hearts of mortal men.

Take, lady, then, the gift I bring, No gay and graceful offering, No flower-smile of the laughing spring.

Midst the green buds of Youth's fresh May, With Fancy's leaf-enwoven bay, My sad and sombre gift I lay.

And if it deepens in thy mind A sense of suffering human-kind, — The outcast and the spirit-blind;

Oppressed and spoiled on every side, By Prejudice, and Scorn, and Pride, Life's common courtesies denied;

Sad mothers mourning o'er their trust, Children by want and misery nursed, Tasting life's bitter cup at first;

If to their strong appeals which come From fireless hearth, and crowded room, And the close alley's noisome gloom, — Though dark the hands upraised to thee In mute beseeching agony, Thou lend'st thy woman's sympathy;

Not vainly on thy gentle shrine, Where Love, and Mirth, and Friendship twine Their varied gifts, I offer mine.

1843.

THE PUMPKIN.

OH, greenly and fair in the lands of the sun,

The vines of the gourd and the rich melon run,

And the rock and the tree and the cottage enfold,

With broad leaves all greenness and blossoms all gold,

Like that which o'er Nineveh's prophet once grew, While he waited to know that his warning was

true,

And longed for the storm-cloud, and listened in vain

For the rush of the whirlwind and red fire-rain.

On the banks of the Xenil the dark Spanish maiden

Comes up with the fruit of the tangled vine laden ; And the Creole of Cuba laughs out to behold

- Through orange-leaves shining the broad spheres of gold;
- Yet with dearer delight from his home in the North,

On the fields of his harvest the Yankee looks forth, Where crook-necks are coiling and yellow fruit shines.

And the sun of September melts down on his vines.

- Ah! on Thanksgiving day, when from East and from West,
- From North and from South come the pilgrim and guest,
- When the gray-haired New-Englander sees round his board
- The old broken links of affection restored,
- When the care-wearied man seeks his mother once more,
- And the worn matron smiles where the girl smiled before,
- What moistens the lip and what brightens the eye?
- What calls back the past, like the rich Pumpkin pie?
- Oh, fruit loved of boyhood ! the old days recalling,
- When wood-grapes were purpling and brown nuts were falling !
- When wild, ugly faces we carved in its skin,

Glaring out through the dark with a candle within !

- When we laughed round the corn-heap, with hearts all in tune,
- Our chair a broad pumpkin, our lantern the moon,
- Telling tales of the fairy who travelled like steam,
- In a pumpkin-shell coach, with two rats for her team !

Then thanks for thy present! none sweeter or better

E'er smoked from an oven or circled a platter !

Fairer hands never wrought at a pastry more fine, Brighter eyes never watched o'er its baking, than thine!

And the prayer, which my mouth is too full to express,

Swells my heart that thy shadow may never be less,

That the days of thy lot may be lengthened below,

And the fame of thy worth like a pumpkin-vine grow,

And thy life be as sweet, and its last sunset sky Golden-tinted and fair as thy own Pumpkin pie ! 1844.

FORGIVENESS.

| My heart was heavy, for its trust had been |
|---|
| Abused, its kindness answered with foul wrong; |
| So, turning gloomily from my fellow-men, |
| One summer Sabbath day I strolled among |
| The green mounds of the village burial-place; |
| Where, pondering how all human love and hate |
| Find one sad level; and how, soon or late, |
| Wronged and wrongdoer, each with meekened face, |
| And cold hands folded over a still heart, |
| Pass the green threshold of our common grave, |
| Whither all footsteps tend, whence none depart, |
| Awed for myself, and pitying my race, |
| Our common sorrow, like a mighty wave, |
| Swept all my pride away, and trembling I forgave! |
| 1846. |

TO MY SISTER,

WITH A COPY OF "THE SUPERNATURALISM OF NEW ENGLAND."

The work referred to was a series of papers under this title, contributed to the *Democratic Review* and afterward collected into a volume, in which I noted some of the superstitions and folklore prevalent in New England. The volume has not been kept in print, but most of its contents are distributed in my *Literary Recreations and Miscellanies*.

DEAR Sister ! while the wise and sage Turn coldly from my playful page, And count it strange that ripened age Should stoop to boyhood's folly ; I know that thou wilt judge aright Of all which makes the heart more light, Or lends one star-gleam to the night Of clouded Melancholy.

Away with weary cares and themes! Swing wide the moonlit gate of dreams! Leave free once more the land which teems

With wonders and romances ! Where thou, with clear discerning eyes, Shalt rightly read the truth which lies Beneath the quaintly masking guise

Of wild and wizard fancies.

Lo! once again our feet we set On still green wood-paths, twilight wet, By lonely brooks, whose waters fret The roots of spectral beeches; Again the hearth-fire glimmers o'er Home's whitewashed wall and painted floor, And young eyes widening to the lore Of faery-folks and witches.

Dear heart! the legend is not vain Which lights that holy hearth again, And calling back from care and pain, And death's funereal sadness, Draws round its old familiar blaze The clustering groups of happier days, And lends to sober manhood's gaze

A glimpse of childish gladness.

And, knowing how my life hath been A weary work of tongue and pen, A long, harsh strife with strong-willed men, Thou wilt not chide my turning To con, at times, an idle rhyme, To pluck a flower from childhood's clime, Or listen, at Life's noonday chime, For the sweet bells of Morning !

MY THANKS,

ACCOMPANYING MANUSCRIPTS PRESENTED TO A FRIEND.

'T is said that in the Holy Land The angels of the place have blessed The pilgrim's bed of desert sand, Like Jacob's stone of rest.

That down the hush of Syrian skies Some sweet-voiced saint at twilight sings The song whose holy symphonies Are beat by unseen wings;

Till starting from his sandy bed, The wayworn wanderer looks to see The halo of an angel's head Shine through the tamarisk-tree.

So through the shadows of my way Thy smile hath fallen soft and clear, So at the weary close of day Hath seemed thy voice of cheer.

That pilgrim pressing to his goal May pause not for the vision's sake, Yet all fair things within his soul The thought of it shall wake :

The graceful palm-tree by the well, Seen on the far horizon's rim; The dark eyes of the fleet gazelle, Bent timidly on him;

Each pictured saint, whose golden hair Streams sunlike through the convent's gloom; Pale shrines of martyrs young and fair, And loving Mary's tomb;

And thus each tint or shade which falls, From sunset cloud or waving tree, Along my pilgrim path, recalls The pleasant thought of thee. Of one in sun and shade the same, In weal and woe my steady friend, Whatever by that holy name The angels comprehend.

Not blind to faults and follies, thou Hast never failed the good to see, Nor judged by one unseemly bough The upward-struggling tree.

These light leaves at thy feet I lay, — Poor common thoughts on common things, Which time is shaking, day by day, Like feathers from his wings;

Chance shootings from a frail life-tree, To nurturing care but little known, Their good was partly learned of thee, Their folly is my own.

That tree still clasps the kindly mould, Its leaves still drink the twilight dew, And weaving its pale green with gold, Still shines the sunlight through.

There still the morning zephyrs play, And there at times the spring bird sings, And mossy trunk and fading spray Are flowered with glossy wings.

Yet, even in genial sun and rain, Root, branch, and leaflet fail and fade; The wanderer on its lonely plain Erelong shall miss its shade.

O friend beloved, whose curious skill Keeps bright the last year's leaves and flowers, With warm, glad, summer thoughts to fill The cold, dark, winter hours !

Pressed on thy heart, the leaves I bring May well defy the wintry cold, Until, in Heaven's eternal spring, Life's fairer ones unfold. 1847.

REMEMBRANCE.

WITH COPIES OF THE AUTHOR'S WRITINGS.

FRIEND of mine ! whose lot was cast With me in the distant past ; Where, like shadows flitting fast,

Fact and fancy, thought and theme, Word and work, begin to seem Like a half-remembered dream!

Touched by change have all things been, Yet I think of thee as when We had speech of lip and pen.

For the calm thy kindness lent To a path of discontent, Rough with trial and dissent;

Gentle words where such were few, Softening blame where blame was true, Praising where small praise was due;

REMEMBRANCE

For a waking dream made good, For an ideal understood, For thy Christian womanhood;

For thy marvellous gift to cull From our common life and dull Whatsoe'er is beautiful;

Thoughts and fancies, Hybla's bees Dropping sweetness; true heart's-ease Of congenial sympathies; —

Still for these I own my debt; Memory, with her eyelids wet, Fain would thank thee even yet!

And as one who scatters flowers Where the Queen of May's sweet hours Sits, o'ertwined with blossomed bowers,

In superfluous zeal bestowing Gifts where gifts are overflowing, So I pay the debt I'm owing.

To thy full thoughts, gay or sad, Sunny-hued or sober clad, Something of my own I add;

Well assured that thou wilt take Even the offering which I make Kindly for the giver's sake. 1851.

MY NAMESAKE.

Addressed to Francis Greenleaf Allison of Burlington, New Jersey.

You scarcely need my tardy thanks, Who, self-rewarded, nurse and tend — A green leaf on your own Green Banks — The memory of your friend.

For me, no wreath, bloom-woven, hides The sobered brow and lessening hair : For aught I know, the myrtled sides Of Helicon are bare.

Their scallop-shells so many bring The fabled founts of song to try, They 've drained, for aught I know, the spring Of Aganippe dry.

Ah well! — The wreath the Muses braid Proves often Folly's cap and bell; Methinks, my ample beaver's shade May serve my turn as well.

Let Love's and Friendship's tender debt Be paid by those I love in life. Why should the unborn critic whet For me his scalping-knife?

Why should the stranger peer and pry One's vacant house of life about,

MY NAMESAKE

- And drag for curious ear and eye His faults and follies out? —
- Why stuff, for fools to gaze upon, With chaff of words, the garb he wore, As corn-husks when the ear is gone Are rustled all the more?
- Let kindly Silence close again, The picture vanish from the eye, And on the dim and misty main Let the small ripple die.

Yet not the less I own your claim To grateful thanks, dear friends of mine. Hang, if it please you so, my name Upon your household line.

- Let Fame from brazen lips blow wide Her chosen names, I envy none:
- A mother's love, a father's pride, Shall keep alive my own !

Still shall that name as now recall The young leaf wet with morning dew, The glory where the sunbeams fall The breezy woodlands through.

That name shall be a household word, A spell to waken smile or sigh; In many an evening prayer be heard And cradle lullaby.

And thou, dear child, in riper days When asked the reason of thy name, Shalt answer: "One't were vain to praise Or censure bore the same.

"Some blamed him, some believed him good, The truth lay doubtless 'twixt the two; He reconciled as best he could Old faith and fancies new.

"In him the grave and playful mixed, And wisdom held with folly truce, And Nature compromised betwixt Good fellow and recluse.

"He loved his friends, forgave his foes; And, if his words were harsh at times, He spared his fellow-men, — his blows Fell only on their crimes.

"He loved the good and wise, but found His human heart to all akin Who met him on the common ground Of suffering and of sin.

"Whate'er his neighbors might endure Of pain or grief his own became; For all the ills he could not cure He held himself to blame.

"His good was mainly an intent, His evil not of forethought done;

MY NAMESAKE

- The work he wrought was rarely meant Or finished as begun.
- "Ill served his tides of feeling strong To turn the common mills of use; And, over restless wings of song, His birthright garb hung loose!
- "His eye was beauty's powerless slave, And his the ear which discord pains; Few guessed beneath his aspect grave What passions strove in chains.
- "He had his share of care and pain, No holiday was life to him; Still in the heirloom cup we drain The bitter drop will swim.
- "Yet Heaven was kind, and here a bird And there a flower beguiled his way; And, cool, in summer noons, he heard The fountains plash and play.
- "On all his sad or restless moods The patient peace of Nature stole; The quiet of the fields and woods Sank deep into his soul.
- "He worshipped as his fathers did, And kept the faith of childish days, And, howsoe'er he strayed or slid, He loved the good old ways.

"The simple tastes, the kindly traits, The tranquil air, and gentle speech, The silence of the soul that waits For more than man to teach.

"The cant of party, school, and sect, Provoked at times his honest scorn, And Folly, in its gray respect, He tossed on satire's horn.

"But still his heart was full of awe And reverence for all sacred things; And, brooding over form and law, He saw the Spirit's wings!

"Life's mystery wrapt him like a cloud; He heard far voices mock his own, The sweep of wings unseen, the loud, Long roll of waves unknown.

"The arrows of his straining sight Fell quenched in darkness; priest and sage, Like lost guides calling left and right, Perplexed his doubtful age.

"Like childhood, listening for the sound Of its dropped pebbles in the well, All vainly down the dark profound His brief-lined plummet fell.

"So, scattering flowers with pious pains On old beliefs, of later creeds, Which claimed a place in Truth's domains, He asked the title-deeds. "He saw the old-time's groves and shrines In the long distance fair and dim; And heard, like sound of far-off pines, The century-mellowed hymn!

"He dared not mock the Dervish whirl, The Brahmin's rite, the Lama's spell; God knew the heart; Devotion's pearl Might sanctify the shell.

"While others trod the altar stairs He faltered like the publican; And, while they praised as saints, his prayers Were those of sinful man.

"For, awed by Sinai's Mount of Law, The trembling faith alone sufficed, That, through its cloud and flame, he saw The sweet, sad face of Christ!

"And listening, with his forehead bowed, Heard the Divine compassion fill The pauses of the trump and cloud With whispers small and still.

"The words he spake, the thoughts he penned, Are mortal as his hand and brain, But, if they served the Master's end, He has not lived in vain!"

Heaven make thee better than thy name, Child of my friends ! — For thee I crave What riches never bought, nor fame To mortal longing gave.

I pray the prayer of Plato old: God make thee beautiful within, And let thine eyes the good behold In everything save sin!

Imagination held in check To serve, not rule, thy poisëd mind; Thy Reason, at the frown or beck Of Conscience, loose or bind.

No dreamer thou, but real all, — Strong manhood crowning vigorous youth; Life made by duty epical And rhythmic with the truth.

So shall that life the fruitage yield Which trees of healing only give, And green-leafed in the Eternal field Of God, forever live ! 1853.

A MEMORY.

HERE, while the loom of Winter weaves The shroud of flowers and fountains, I think of thee and summer eves Among the Northern mountains.

When thunder tolled the twilight's close, And winds the lake were rude on, And thou wert singing, *Ca' the Yowes*, The bonny yowes of Cluden ! When, close and closer, hushing breath, Our circle narrowed round thee, And smiles and tears made up the wreath Wherewith our silence crowned thee; And, strangers all, we felt the ties

Of sisters and of brothers ; Ah! whose of all those kindly eyes Now smile upon another's?

The sport of Time, who still apart The waifs of life is flinging; Oh. nevermore shall heart to heart

Draw nearer for that singing !

Yet when the panes are frosty-starred, And twilight's fire is gleaming,

I hear the songs of Scotland's bard Sound softly through my dreaming!

A song that lends to winter snows The glow of summer weather, — Again I hear thee ca' the yowes To Cluden's hills of heather ! 1854.

MY DREAM.

In my dream, methought I trod, Yesternight, a mountain road; Narrow as Al Sirat's span, High as eagle's flight, it ran.

Overhead, a roof of cloud With its weight of thunder bowed; Underneath, to left and right, Blankness and abysmal night.

Here and there a wild-flower blushed, Now and then a bird-song gushed; Now and then, through rifts of shade, Stars shone out, and sunbeams played.

But the goodly company, Walking in that path with me, One by one the brink o'erslid, One by one the darkness hid.

Some with wailing and lament, Some with cheerful courage went; But, of all who smiled or mourned, Never one to us returned.

Anxiously, with eye and ear, Questioning that shadow drear, Never hand in token stirred, Never answering voice I heard!

Steeper, darker ! — lo ! I felt From my feet the pathway melt. Swallowed by the black despair, And the hungry jaws of air,

Past the stony-throated caves, Strangled by the wash of waves, Past the splintered crags, I sank On a green and flowery bank, —

MY DREAM

Soft as fall of thistle-down, Lightly as a cloud is blown, Soothingly as childhood pressed To the bosom of its rest.

Of the sharp-horned rocks instead, Green the grassy meadows spread, Bright with waters singing by Trees that propped a golden sky.

Painless, trustful, sorrow-free, Old lost faces welcomed me, With whose sweetness of content Still expectant hope was blent.

Waking while the dawning gray Slowly brightened into day, Pondering that vision fled, Thus unto myself I said : —

- "Steep and hung with clouds of strife Is our narrow path of life; And our death the dreaded fall Through the dark, awaiting all.
- "So, with painful steps we climb Up the dizzy ways of time, Ever in the shadow shed By the forecast of our dread.
- "Dread of mystery solved alone, Of the untried and unknown; Yet the end thereof may seem Like the falling of my dream.

"And this heart-consuming care, All our fears of here or there, Change and absence, loss and death, Prove but simple lack of faith."

Thou, O Most Compassionate ! Who didst stoop to our estate, Drinking of the cup we drain, Treading in our path of pain, —

Through the doubt and mystery, Grant to us thy steps to see, And the grace to draw from thence Larger hope and confidence.

Show thy vacant tomb, and let, As of old, the angels sit, Whispering, by its open door:

"Fear not! He hath gone before!" 1855.

THE BAREFOOT BOY.

BLESSINGS on thee, little man, Barefoot boy, with cheek of tan ! With thy turned-up pantaloons, And thy merry whistled tunes ; With thy red lip, redder still Kissed by strawberries on the hill ; With the sunshine on thy face, Through thy torn brim's jaunty grace ; From my heart I give thee joy, — I was once a barefoot boy ! Prince thou art, — the grown-up man Only is republican. Let the million-dollared ride ! Barefoot, trudging at his side, Thou hast more than he can buy In the reach of ear and eye, — Outward sunshine, inward joy : Blessings on thee, barefoot boy !

Oh for boyhood's painless play, Sleep that wakes in laughing day, Health that mocks the doctor's rules, Knowledge never learned of schools. Of the wild bee's morning chase, Of the wild-flower's time and place, Flight of fowl and habitude Of the tenants of the wood : How the tortoise bears his shell. How the woodchuck digs his cell, And the ground-mole sinks his well; How the robin feeds her young, How the oriole's nest is hung : Where the whitest lilies blow, Where the freshest berries grow, Where the ground-nut trails its vine, Where the wood-grape's clusters shine; Of the black wasp's cunning way, Mason of his walls of clay, And the architectural plans Of gray hornet artisans! For, eschewing books and tasks, Nature answers all he asks :

Hand in hand with her he walks, Face to face with her he talks, Part and parcel of her joy, — Blessings on the barefoot boy!

Oh for boyhood's time of June, Crowding years in one brief moon, When all things I heard or saw. Me, their master, waited for. I was rich in flowers and trees. Humming-birds and honey-bees : For my sport the squirrel played, Plied the snouted mole his spade ; For my taste the blackberry cone Purpled over hedge and stone ; Laughed the brook for my delight Through the day and through the night, Whispering at the garden wall, Talked with me from fall to fall; Mine the sand-rimmed pickerel pond, Mine the walnut slopes beyond, Mine, on bending orchard trees, Apples of Hesperides! Still as my horizon grew, Larger grew my riches too; All the world I saw or knew Seemed a complex Chinese toy. Fashioned for a barefoot boy !

Oh for festal dainties spread, Like my bowl of milk and bread; Pewter spoon and bowl of wood, On the door-stone, gray and rude!



The Barefoot Boy

Front and property of Samplement the sector of a sec The Laretoot Buy





O'er me, like a regal tent, Cloudy-ribbed, the sunset bent, Purple-curtained, fringed with gold, Looped in many a wind-swung fold; While for music came the play Of the pied frogs' orchestra; And, to light the noisy choir, Lit the fly his lamp of fire. I was monarch : pomp and joy Waited on the barefoot boy !

Cheerily, then, my little man, Live and laugh, as boyhood can ! Though the flinty slopes be hard, Stubble-speared the new-mown sward, Every morn shall lead thee through Fresh baptisms of the dew; Every evening from thy feet Shall the cool wind kiss the heat: All too soon these feet must hide In the prison cells of pride, Lose the freedom of the sod. Like a colt's for work be shod, Made to tread the mills of toil, Up and down in ceaseless moil: Happy if their track be found Never on forbidden ground ; Happy if they sink not in Quick and treacherous sands of sin. Ah! that thou couldst know thy joy, Ere it passes, barefoot boy!

1855.

VOL. II.

MY PSALM.

I MOURN no more my vanished years : Beneath a tender rain, An April rain of smiles and tears, My heart is young again.

The west-winds blow, and, singing low, I hear the glad streams run; The windows of my soul I throw Wide open to the sun.

No longer forward nor behind I look in hope or fear; But, grateful, take the good I find, The best of now and here.

I plough no more a desert land, To harvest weed and tare; The manna dropping from God's hand Rebukes my painful care.

I break my pilgrim staff, I lay Aside the toiling oar; The angel sought so far away I welcome at my door.

The airs of spring may never play Among the ripening corn, Nor freshness of the flowers of May Blow through the autumn morn; Yet shall the blue-eyed gentian look Through fringëd lids to heaven, And the pale aster in the brook Shall see its image given ; —

The woods shall wear their robes of praise, The south-wind softly sigh,

And sweet, calm days in golden haze Melt down the amber sky.

Not less shall manly deed and word Rebuke an age of wrong;

The graven flowers that wreathe the sword Make not the blade less strong.

- But smiting hands shall learn to heal, To build as to destroy;
- Nor less my heart for others feel That I the more enjoy.
- All as God wills, who wisely heeds To give or to withhold,
- And knoweth more of all my needs Than all my prayers have told !

Enough that blessings undeserved Have marked my erring track;

- That wheresoe'er my feet have swerved, His chastening turned me back;
- That more and more a Providence Of love is understood,

Making the springs of time and sense Sweet with eternal good ; --

That death seems but a covered way Which opens into light, Wherein no blinded child can stray Beyond the Father's sight;

That care and trial seem at last, Through Memory's sunset air, Like mountain-ranges overpast, In purple distance fair;

That all the jarring notes of life Seem blending in a psalm, And all the angles of its strife Slow rounding into calm.

And so the shadows fall apart, And so the west-winds play; And all the windows of my heart I open to the day.

1859.

THE WAITING.

I wAIT and watch : before my eyes Methinks the night grows thin and gray;
I wait and watch the eastern skies
To see the golden spears uprise Beneath the oriflamme of day ! Like one whose limbs are bound in trance I hear the day-sounds swell and grow, And see across the twilight glance, Troop after troop, in swift advance, The shining ones with plumes of snow!

I know the errand of their feet, I know what mighty work is theirs; I can but lift up hands unmeet, The threshing-floors of God to beat, And speed them with unworthy prayers.

I will not dream in vain despair The steps of progress wait for me: The puny leverage of a hair The planet's impulse well may spare, A drop of dew the tided sea.

The loss, if loss there be, is mine, And yet not mine if understood; For one shall grasp and one resign, One drink life's rue, and one its wine, And God shall make the balance good.

Oh power to do! Oh baffled will! Oh prayer and action! ye are one. Who may not strive, may yet fulfil The harder task of standing still, And good but wished with God is done!

And good but wished with God is done 1862.

SNOW-BOUND.

A WINTER IDYL.

TO THE MEMORY

OF

THE HOUSEHOLD IT DESCRIBES,

THIS POEM IS DEDICATED BY THE AUTHOR.

The inmates of the family at the Whittier homestead who are referred to in the poem were my father, mother, my brother and two sisters, and my uncle and aunt both unmarried. In addition, there was the district school-master who boarded with us. The "not unfeared, half-welcome guest" was Harriet Livermore, daughter of Judge Livermore, of New Hampshire, a young woman of fine natural ability, enthusiastic, eccentric, with slight control over her violent temper, which sometimes made her religious profession doubtful. She was equally ready to exhort in schoolhouse praver-meetings and dance in a Washington ball-room, while her father was a member of Congress. She early embraced the doctrine of the Second Advent, and felt it her duty to proclaim the Lord's speedy coming. With this message she crossed the Atlantic and spent the greater part of a long life in travelling over Europe and Asia. She lived some time with Lady Hester Stanhope, a woman as fantastic and mentally strained as herself, on the slope of Mt. Lebanon, but finally quarrelled with her in regard to two white horses with red marks on their backs which suggested the idea of saddles, on which her titled hostess expected to ride into Jerusalem with the Lord. A friend of mine found her, when quite an old woman, wandering in Syria with a tribe of Arabs, who with the Oriental notion that madness is inspiration, accepted her as their prophetess and leader. At the time referred to in Snow-Bound she was boarding at the Rocks Village about two miles from us.

In my boyhood, in our lonely farm-house, we had scanty sources of information; few books and only a small weekly newspaper. Our only annual was the Almanac. Under such circumstances story-telling was a necessary resource in the long winter evenings. My father when a young man had traversed the wilderness to Canada, and could tell us of his adventures with Indians and wild

SNOW-BOUND

beasts, and of his sojourn in the French villages. My uncle was ready with his record of hunting and fishing and, it must be confessed, with stories which he at least half believed, of witchcraft and apparitions. My mother, who was born in the Indian-haunted region of Somersworth, New Hampshire, between Dover and Portsmonth, told us of the inroads of the savages, and the narrow escape of her ancestors. She described strange people who lived on the Piscataqua and Cocheco, among whom was Bantam the sorcerer. I have in my possession the wizard's "conjuring book," which he solemnly opened when consulted. It is a copy of Cornelius Agrippa's Magic printed in 1651, dedicated to Dr. Robert Child, who, like Michael Scott, had learned

> "the art of glammorie In Padua beyond the sea,"

and who is famous in the annals of Massachusetts, where he was at one time a resident, as the first man who dared petition the General Court for liberty of conscience. The full title of the book is Three Books of Occult Philosophy, by Henry Cornelius Agrippa, Knight, Doctor of both Laws, Counsellor to Casar's Sacred Majesty and Judge of the Prerogative Court.

"As the Spirits of Darkness be stronger in the dark, so Good Spirits, which be Angels of Light, are augmented not only by the Divine light of the Sun, but also by our common VVood Fire: and as the Celestial Fire drives away dark spirits, so also this our Fire of VVood doth the same." - Cos. AGENTA, Occult Philosophy, Book 1. ch. v.

> "Announced by all the trumpets of the sky, Arrives the snow, and, driving o'er the fields, Seems nowhere to alight: the whited air Hides hills and woods, the river and the heaven, And veils the farm-house at the garden's end. The sled and traveller stopped, the courier's feet Delayed, all friends shut out, the housemates it Around the radiant frequesce, enclosed In a tumultuous privacy of storm."

EMERSON. The Snow Storm.

THE sun that brief December day Rose cheerless over hills of gray, And, darkly circled, gave at noon A sadder light than waning moon. Slow tracing down the thickening sky Its mute and ominous prophecy,

A portent seeming less than threat, It sank from sight before it set. A chill no coat, however stout, Of homespun stuff could quite shut out, A hard, dull bitterness of cold, That checked, mid-vein, the circling race Of life-blood in the sharpened face, The coming of the snow-storm told. The wind blew east; we heard the roar Of Ocean on his wintry shore, And felt the strong pulse throbbing there Beat with low rhythm our inland air.

Meanwhile we did our nightly chores, — Brought in the wood from out of doors, Littered the stalls, and from the mows Raked down the herd's-grass for the cows : Heard the horse whinnying for his corn ; And, sharply clashing horn on horn, Impatient down the stanchion rows The cattle shake their walnut bows ; While, peering from his early perch Upon the scaffold's pole of birch, The cock his crested helmet bent And down his querulous challenge sent.

Unwarmed by any sunset light The gray day darkened into night, A night made hoary with the swarm, And whirl-dance of the blinding storm, As zigzag, wavering to and fro, Crossed and recrossed the wingöd snow : And ere the early bedtime came The white drift piled the window-frame,

SNOW-BOUND

And through the glass the clothes-line posts Looked in like tall and sheeted ghosts.

So all night long the storm roared on : The morning broke without a sun; In tiny spherule traced with lines Of Nature's geometric signs, In starry flake, and pellicle, All day the hoary meteor fell; And, when the second morning shone, We looked upon a world unknown, On nothing we could call our own. Around the glistening wonder bent The blue walls of the firmament, No cloud above, no earth below, --A universe of sky and snow ! The old familiar sights of ours Took marvellous shapes; strange domes and towers Rose up where sty or corn-crib stood, Or garden-wall, or belt of wood ; A smooth white mound the brush-pile showed, A fenceless drift what once was road : The bridle-post an old man sat With loose-flung coat and high cocked hat; The well-curb had a Chinese roof: And even the long sweep, high aloof, In its slant splendor, seemed to tell Of Pisa's leaning miracle.

A prompt, decisive man, no breath Our father wasted : "Boys, a path!" Well pleased, (for when did farmer boy Count such a summons less than joy?)

Our buskins on our feet we drew: With mittened hands, and caps drawn low. To guard our necks and ears from snow, We cut the solid whiteness through. And, where the drift was deepest, made A tunnel walled and overlaid With dazzling crystal: we had read Of rare Aladdin's wondrous cave. And to our own his name we gave, With many a wish the luck were ours To test his lamp's supernal powers. We reached the barn with merry din. And roused the prisoned brutes within. The old horse thrust his long head out. And grave with wonder gazed about ; The cock his lusty greeting said, And forth his speckled harem led; The oxen lashed their tails, and hooked. And mild reproach of hunger looked ; The hornëd patriarch of the sheep, Like Egypt's Amun roused from sleep, Shook his sage head with gesture mute, And emphasized with stamp of foot.

All day the gusty north-wind bore The loosening drift its breath before; Low circling round its southern zone, The sun through dazzling snow-mist shone. No church-bell lent its Christian tone To the savage air, no social smoke Curled over woods of snow-hung oak. A solitude made more intense By dreary-voicëd elements,



Snow-Bound

Longitud to the first the size of a the surgery of the state of the Manual day and otherwood former high where the gash was chosen and a million to the second state and shall be all I have a light to a second second burst the second second second second second to the solution of the last some come The rest of the second state in second state. In the matter station

Surger-Bound





SNOW-BOUND

The shrieking of the mindless wind, The moaning tree-boughs swaying blind, And on the glass the unmeaning beat Of ghostly finger-tips of sleet. Beyond the circle of our hearth No welcome sound of toil or mirth Unbound the spell, and testified Of human life and thought outside. We minded that the sharpest ear The buried brooklet could not hear, The music of whose liquid lip Had been to us companionship, And, in our lonely life, had grown To have an almost human tone.

As night drew on, and, from the crest Of wooded knolls that ridged the west, The sun, a snow-blown traveller, sank From sight beneath the smothering bank, We piled, with care, our nightly stack Of wood against the chimney-back, --The oaken log, green, huge, and thick, And on its top the stout back-stick ; The knotty forestick laid apart, And filled between with curious art The ragged brush; then, hovering near, We watched the first red blaze appear, Heard the sharp crackle, caught the gleam On whitewashed wall and sagging beam, Until the old, rude-furnished room Burst, flower-like, into rosy bloom; While radiant with a mimic flame Outside the sparkling drift became,

And through the bare-boughed lilac-tree Our own warm hearth seemed blazing free. The crane and pendent trammels showed, The Turks' heads on the andirons glowed; While childish fancy, prompt to tell The meaning of the miracle, Whispered the old rhyme: "Under the tree, When fire outdoors burns merrily, There the witches are making tea."

The moon above the eastern wood Shone at its full; the hill-range stood Transfigured in the silver flood, Its blown snows flashing cold and keen, Dead white, save where some sharp ravine Took shadow, or the sombre green Of hemlocks turned to pitchy black Against the whiteness at their back. For such a world and such a night Most fitting that unwarming light, Which only seemed where'er it fell To make the coldness visible.

Shut in from all the world without, We sat the clean-winged hearth about, Content to let the north-wind roar In baffled rage at pane and door, While the red logs before us beat The frost-line back with tropic heat; And ever, when a louder blast Shook beam and rafter as it passed, The merrier up its roaring draught The great throat of the chimney laughed;

SNOW-BOUND

The house-dog on his paws outspread Laid to the fire his drowsy head, The cat's dark silhouette on the wall A couchant tiger's seemed to fall; And, for the winter fireside meet, Between the andirons' straddling feet, The mug of cider simmered slow, The apples sputtered in a row, And, close at hand, the basket stood With nuts from brown October's wood.

What matter how the night behaved? What matter how the north-wind raved? Blow high, blow low, not all its snow Could quench our hearth-fire's ruddy glow. O Time and Change ! - with hair as gray As was my sire's that winter day, How strange it seems, with so much gone Of life and love, to still live on ! Ah, brother ! only I and thou Are left of all that circle now, -The dear home faces whereupon That fitful firelight paled and shone. Henceforward, listen as we will, The voices of that hearth are still: Look where we may, the wide earth o'er Those lighted faces smile no more. We tread the paths their feet have worn, We sit beneath their orchard trees. We hear, like them, the hum of bees And rustle of the bladed corn : We turn the pages that they read,

Their written words we linger o'er,

But in the sun they cast no shade, No voice is heard, no sign is made,

No step is on the conscious floor ! Yet Love will dream, and Faith will trust, (Since He who knows our need is just,) That somehow, somewhere, meet we must. Alas for him who never sees The stars shine through his cypress-trees ! Who, hopeless, lays his dead away, Nor looks to see the breaking day Across the mournful marbles play ! Who hath not learned, in hours of faith, The truth to flesh and sense unknown,

That Life is ever lord of Death, And Love can never lose its own!

We sped the time with stories old, Wrought puzzles out, and riddles told, Or stammered from our school-book lore

"The Chief of Gambia's golden shore."³ How often since, when all the land Was clay in Slavery's shaping hand, As if a far-blown trumpet stirred The languorous sin-sick air, I heard:

"Does not the voice of reason cry, Claim the first right which Nature gave, From the red scourge of bondage fly.

Nor delign to live a burdened slave !" Our father rode again his ride On Memphremagog's wooded side; Sat down again to moose and samp In trapper's hut and Indian camp; Lived o'er the old idyllic ease Beneath St. François' hemlock-trees; Again for him the moonlight shone On Norman cap and bodiced zone; Again he heard the violin play Which led the village dance away, And mingled in its merry whirl The grandam and the laughing girl. Or, nearer home, our steps he led Where Salisbury's level marshes spread

Mile-wide as flies the laden bee; Where merry mowers, hale and strong, Swept, scythe on scythe, their swaths along

The low green prairies of the sea. We shared the fishing off Boar's Head,

And round the rocky Isles of Shoals

The hake-broil on the drift-wood coals; The chowder on the sand-beach made, Dipped by the hungry, steaming hot, With spoons of clam-shell from the pot. We heard the tales of witchcraft old, And dream and sign and marvel told To sleepy listeners as they lay Stretched idly on the salted hay, Adrift along the winding shores, When favoring breezes deigned to blow The square sail of the gundelow And idle lay the useless oars.

Our mother, while she turned her wheel Or run the new-knit stocking-heel, Told how the Indian hordes came down At midnight on Cocheco town,

And how her own great-uncle bore His cruel scalp-mark to fourscore. Recalling, in her fitting phrase,

So rich and picturesque and free, (The common unrhymed poetry Of simple life and country ways.) The story of her early days, ---She made us welcome to her home : Old hearths grew wide to give us room : We stole with her a frightened look At the gray wizard's conjuring-book, The fame whereof went far and wide Through all the simple country side ; We heard the hawks at twilight play. The boat-horn on Piscatagua. The loon's weird laughter far away; We fished her little trout-brook, knew What flowers in wood and meadow grew, What sunny hillsides autumn-brown She climbed to shake the ripe nuts down. Saw where in sheltered cove and bay The ducks' black squadron anchored lay, And heard the wild-geese calling loud Beneath the gray November cloud.

Then, haply, with a look more grave, And soberer tone, some tale she gave From painful Sewell's ancient tome, Beloved in every Quaker home, Of faith fire-winged by martyrdom, Or Chalkley's Journal, old and quaint, — Gentlest of skippers, rare sea-saint ! — Who, when the dreary calms prevailed, And water-butt and bread-cask failed, And cruel, hungry eyes pursued His portly presence mad for food, With dark hints muttered under breath Of casting lots for life or death, Offered, if Heaven withheld supplies, To be himself the sacrifice. Then, suddenly, as if to save The good man from his living grave, A ripple on the water grew, A school of porpoise flashed in view. "Take, eat," he said, " and be content ; These fishes in my stead are sent By Him who gave the tangled ram To spare the child of Abraham."⁴

Our uncle, innocent of books, Was rich in lore of fields and brooks. The ancient teachers never dumb Of Nature's unhoused lyceum. In moons and tides and weather wise. He read the clouds as prophecies, And foul or fair could well divine, By many an occult hint and sign, Holding the cunning-warded keys To all the woodcraft mysteries; Himself to Nature's heart so near That all her voices in his ear Of beast or bird had meanings clear, Like Apollonius of old, Who knew the tales the sparrows told, Or Hermes who interpreted What the sage cranes of Nilus said; VOL. II. 10

Content to live where life began: A simple, guileless, childlike man, Strong only on his native grounds, The little world of sights and sounds Whose girdle was the parish bounds, Whereof his fondly partial pride The common features magnified, As Surrey hills to mountains grew In White of Selborne's loving view, ---He told how teal and loon he shot, And how the eagle's eggs he got, The feats on pond and river done. The prodigies of rod and gun; Till, warming with the tales he told, Forgotten was the outside cold, The bitter wind unheeded blew. From ripening corn the pigeons flew, The partridge drummed i' the wood, the mink Went fishing down the river-brink. In fields with bean or clover gay, The woodchuck, like a hermit gray,

Peered from the doorway of his cell; The muskrat plied the mason's trade, And tier by tier his mud-walls laid; And from the shagbark overhead

The grizzled squirrel dropped his shell.

Next, the dear aunt, whose smile of cheer And voice in dreams I see and hear, — The sweetest woman ever Fate Perverse denied a household mate, Who, lonely, homeless, not the less Found peace in love's unselfishness,

SNOW-BOUND

And welcome wheresoe'er she went, A calm and gracious element, Whose presence seemed the sweet income And womanly atmosphere of home, -Called up her girlhood memories, The huskings and the apple-bees, The sleigh-rides and the summer sails, Weaving through all the poor details And homespun warp of circumstance A golden woof-thread of romance. For well she kept her genial mood And simple faith of maidenhood; Before her still a cloud-land lay, The mirage loomed across her way; The morning dew, that dries so soon With others, glistened at her noon ; Through years of toil and soil and care. From glossy tress to thin gray hair, All unprofaned she held apart The virgin fancies of the heart. Be shame to him of woman born Who hath for such but thought of scorn.

There, too, our elder sister plied Her evening task the stand beside ; A full, rich nature, free to trust, Truthful and almost sternly just, Impulsive, earnest, prompt to act, And make her generous thought a fact, Keeping with many a light disguise The secret of self-sacrifice. O heart sore-tried ! thou hast the best That Heaven itself could give thee, — rest,

Rest from all bitter thoughts and things! How many a poor one's blessing went With thee beneath the low green tent

Whose curtain never outward swings !

As one who held herself a part Of all she saw, and let her heart

Against the household bosom lean, Upon the motley-braided mat Our youngest and our dearest sat, Lifting her large, sweet, asking eyes,

Now bathed in the unfading green And holy peace of Paradise.

Oh, looking from some heavenly hill,

Or from the shade of saintly palms, Or silver reach of river calms, Do those large eves behold me still?

For months upon her grave has lain; And now, when summer south-winds blow

And brier and harebell bloom again, I tread the pleasant paths we trod, I see the violet-sprinkled sod Whereon she leaned, too frail and weak The hillside flowers she loved to seek, Yet following me where'er I went With dark eyes full of love's content. The birds are glad; the brier-rose fills The air with sweetness; all the hills Stretch green to June's unclouded sky; But still I wait with ear and eye For something gone which should be nigh,

A loss in all familiar things, In flower that blooms, and bird that sings. And yet, dear heart! remembering thee, Am I not richer than of old? Safe in thy immortality, What change can reach the wealth I hold ? What chance can mar the pearl and gold Thy love hath left in trust with me? And while in life's late afternoon, Where cool and long the shadows grow, I walk to meet the night that soon Shall shape and shadow overflow, I cannot feel that thou art far, Since near at need the angels are; And when the sunset gates unbar, Shall I not see thee waiting stand, And, white against the evening star, The welcome of thy beckoning hand?

Brisk wielder of the birch and rule, The master of the district school Held at the fire his favored place, Its warm glow lit a laughing face Fresh-hued and fair, where scarce appeared The uncertain prophecy of beard. He teased the mitten-blinded cat, Played cross-pins on my uncle's hat, Sang songs, and told us what befalls In classic Dartmouth's college halls. Born the wild Northern hills among, From whence his yeoman father wrung By patient toil subsistence scant, Not competence and yet not want,

He early gained the power to pay His cheerful, self-reliant way; Could doff at ease his scholar's gown To peddle wares from town to town; Or through the long vacation's reach In lonely lowland districts teach, Where all the droll experience found At stranger hearths in boarding round, The moonlit skater's keen delight, The sleigh-drive through the frosty night, The rustic party, with its rough Accompaniment of blind-man's-buff, And whirling plate, and forfeits paid, His winter task a pastime made. Happy the snow-locked homes wherein He tuned his merry violin, Or played the athlete in the barn. Or held the good dame's winding-yarn, Or mirth-provoking versions told Of classic legends rare and old, Wherein the scenes of Greece and Rome Had all the commonplace of home, And little seemed at best the odds 'Twixt Yankee pedlers and old gods ; Where Pindus-born Arachthus took The guise of any grist-mill brook, And dread Olympus at his will Became a huckleberry hill.

A careless boy that night he seemed ; But at his desk he had the look And air of one who wisely schemed, And hostage from the future took In trainëd thought and lore of book.

Large-brained, clear-eved, of such as he Shall Freedom's young apostles be, Who, following in War's bloody trail. Shall every lingering wrong assail; All chains from limb and spirit strike, Uplift the black and white alike : Scatter before their swift advance The darkness and the ignorance. The pride, the lust, the squalid sloth, Which nurtured Treason's monstrous growth. Made murder pastime, and the hell Of prison-torture possible; The cruel lie of caste refute. Old forms remould, and substitute For Slavery's lash the freeman's will, For blind routine, wise-handed skill; A school-house plant on every hill, Stretching in radiate nerve-lines thence The quick wires of intelligence; Till North and South together brought Shall own the same electric thought, In peace a common flag salute. And, side by side in labor's free And unresentful rivalry, Harvest the fields wherein they fought.

Another guest that winter night Flashed back from lustrous eyes the light. Unmarked by time, and yet not young, The honeyed music of her tongue And words of meekness scarcely told A nature passionate and bold, Strong, self-concentred, spurning guide, Its milder features dwarfed beside

10

Her unbent will's majestic pride. She sat among us, at the best, A not unfeared, half-welcome guest, Rebuking with her cultured phrase Our homeliness of words and ways. A certain pard-like, treacherous grace

Swayed the lithe limbs and dropped the lash, Lent the white teeth their dazzling flash; And under low brows, black with night, Rayed out at times a dangerous light; The sharp heat-lightnings of her face Presaging ill to him whom Fate Condemned to share her love or hate. A woman tropical, intense In thought and act, in soul and sense, She blended in a like degree The vixen and the devotee, Revealing with each freak or feint

The temper of Petruchio's Kate, The raptures of Siena's saint. Her tapering hand and rounded wrist Had facile power to form a fist; The warm, dark languish of her eyes Was never safe from wrath's surprise. Brows saintly calm and lips devout Knew every change of scowl and pout; And the sweet voice had notes more high And shrill for social battle-cry.

Since then what old cathedral town Has missed her pilgrim staff and gown, What convent-gate has held its lock Against the challenge of her knock ! Through Smyrna's plague-hushed thoroughfares, Up sea-set Malta's rocky stairs, Grav olive slopes of hills that hem Thy tombs and shrines, Jerusalem, Or startling on her desert throne The crazy Queen of Lebanon⁵ With claims fantastic as her own. Her tireless feet have held their way: And still, unrestful, bowed, and gray, She watches under Eastern skies. With hope each day renewed and fresh. The Lord's quick coming in the flesh, Whereof she dreams and prophesies! Where'er her troubled path may be, The Lord's sweet pity with her go! The outward wayward life we see, The hidden springs we may not know. Nor is it given us to discern What threads the fatal sisters spun. Through what ancestral years has run The sorrow with the woman born. What forged her cruel chain of moods, What set her feet in solitudes. And held the love within her mute, What mingled madness in the blood, A life-long discord and annoy, Water of tears with oil of joy. And hid within the folded bud Perversities of flower and fruit. It is not ours to separate The tangled skein of will and fate,

To show what metes and bounds should stand Upon the soul's debatable land, And between choice and Providence Divide the circle of events; But He who knows our frame is just, Merciful and compassionate, And full of sweet assurances And hope for all the language is, That He remembereth we are dust!

At last the great logs, crumbling low, Sent out a dull and duller glow, The bull's-eye watch that hung in view, Ticking its weary circuit through, Pointed with mutely warning sign Its black hand to the hour of nine. That sign the pleasant circle broke: My uncle ceased his pipe to smoke, Knocked from its bowl the refuse gray, And laid it tenderly away, Then roused himself to safely cover The dull red brands with ashes over. And while, with care, our mother laid The work aside, her steps she stayed One moment, seeking to express Her grateful sense of happiness For food and shelter, warmth and health, And love's contentment more than wealth. With simple wishes (not the weak, Vain prayers which no fulfilment seek, But such as warm the generous heart, O'er-prompt to do with Heaven its part)

SNOW-BOUND

That none might lack, that bitter night, For bread and clothing, warmth and light.

Within our beds awhile we heard The wind that round the gables roared, With now and then a ruder shock, Which made our very bedsteads rock. We heard the loosened clapboards tost, The board-nails snapping in the frost; And on us, through the unplastered wall, Felt the light sifted snow-flakes fall. But sleep stole on, as sleep will do When hearts are light and life is new; Faint and more faint the murmurs grew, Till in the summer-land of dreams They softened to the sound of streams, Low stir of leaves, and dip of oars, And lapsing waves on quiet shores.

Next morn we wakened with the shout Of merry voices high and clear ; And saw the teamsters drawing near To break the drifted highways out. Down the long hillside treading slow We saw the half-buried oxen go, Shaking the snow from heads uptost, Their straining nostrils white with frost. Before our door the straggling train Drew up, an added team to gain. The elders threshed their hands a-cold,

Passed, with the cider-mug, their jokes From lip to lip; the younger folks

Down the loose snow-banks, wrestling, rolled, Then toiled again the cavalcade

O'er windy hill, through clogged ravine, And woodland paths that wound between Low drooping pine-boughs winter-weighed. From every barn a team afoot, At every house a new recruit, Where, drawn by Nature's subtlest law Haply the watchful young men saw Sweet doorway pictures of the curls And curious eyes of merry girls, Lifting their hands in mock defence Against the snow-ball's compliments, And reading in each missive tost The charm with Eden never lost.

We heard once more the sleigh-bells' sound; And, following where the teamsters led, The wise old Doctor went his round, Just pausing at our door to say, In the brief autocratic way Of one who, prompt at Duty's call, Was free to urge her claim on all,

That some poor neighbor sick abed At night our mother's aid would need. For, one in generous thought and deed,

What mattered in the sufferer's sight

The Quaker matron's inward light, The Doctor's mail of Calvin's creed ? All hearts confess the saints elect

Who, twain in faith, in love agree, And melt not in an acid sect

The Christian pearl of charity !

So days went on : a week had passed Since the great world was heard from last. The Almanac we studied o'er, Read and reread our little store, Of books and pamphlets, scarce a score ; One harmless novel, mostly hid From younger eyes, a book forbid, And poetry, (or good or bad, A single book was all we had,) Where Ellwood's meek, drab-skirted Muse, A stranger to the heathen Nine,

Sang, with a somewhat nasal whine, The wars of David and the Jews. At last the floundering carrier bore The village paper to our door. Lo! broadening outward as we read, To warmer zones the horizon spread; In panoramic length unrolled We saw the marvels that it told. Before us passed the painted Creeks,

And daft McGregor on his raids In Costa Rica's everglades. And up Taygetos winding slow Rode Ypsilanti's Mainote Greeks, A Turk's head at each saddle-bow! Welcome to us its week-old news, Its corner for the rustic Muse,

Its monthly gauge of snow and rain, Its record, mingling in a breath The wedding bell and dirge of death; Jest, anecdote, and love-lorn tale, The latest culprit sent to jail; Its hue and cry of stolen and lost,

Its vendue sales and goods at cost, And traffic calling loud for gain. We felt the stir of hall and street, The pulse of life that round us beat; The chill embargo of the snow Was melted in the genial glow; Wide swung again our ice-locked door, And all the world was ours once more !

Clasp, Angel of the backward look

And folded wings of ashen gray

And voice of echoes far away, The brazen covers of thy book; The weird palimpsest old and vast, Wherein thou hid'st the spectral past; Where, closely mingling, pale and glow The characters of joy and woe; The monographs of outlived years, Or smile-illumed or dim with tears,

Green hills of life that slope to death, And haunts of home, whose vistaed trees Shade off to mournful cypresses

With the white amaranths underneath. Even while I look, I can but heed

The restless sands' incessant fall, Importunate hours that hours succeed, Each clamorous with its own sharp need,

And duty keeping pace with all. Shut down and elasp the heavy lids; I hear again the voice that bids The dreamer leave his dream midway For larger hopes and graver fears: Life greatens in these later years, The century's aloe flowers to-day! Yet, haply, in some lull of life, Some Truce of God which breaks its strife, The worldling's eyes shall gather dew,

Dreaming in throngful city ways Of winter joys his boyhood knew; And dear and early friends — the few Who yet remain — shall pause to view

These Flemish pictures of old days; Sit with me by the homestead hearth, And stretch the hands of memory forth

To warm them at the wood-fire's blaze ! And thanks untraced to lips unknown Shall greet me like the odors blown From unseen meadows newly mown, Or lilies floating in some pond, Wood-fringed, the wayside gaze beyond ; The traveller owns the grateful sense Of sweetness near, he knows not whence, And, pausing, takes with forehead bare The benediction of the air. 1866.

MY TRIUMPH.

THE autumn-time has come; On woods that dream of bloom, And over purpling vines, The low sun fainter shines.

The aster-flower is failing, The hazel's gold is paling; Yet overhead more near The eternal stars appear!

And present gratitude Insures the future's good, And for the things I see I trust the things to be;

That in the paths untrod, And the long days of God, My feet shall still be led, My heart be comforted.

O living friends who love me! O dear ones gone above me! Careless of other fame, I leave to you my name.

Hide it from idle praises, Save it from evil phrases: Why, when dear lips that spake it Are dumb, should strangers wake it?

Let the thick curtain fall; I better know than all How little I have gained, How vast the unattained.

Not by the page word-painted Let life be banned or sainted : Deeper than written scroll The colors of the soul.

Sweeter than any sung My songs that found no tongue; Nobler than any fact My wish that failed of act.

MY TRIUMPH

Others shall sing the song, Others shall right the wrong, — Finish what I begin, And all I fail of win.

What matter, I or they? Mine or another's day, So the right word be said And life the sweeter made?

Hail to the coming singers! Hail to the brave light-bringers! Forward I reach and share All that they sing and dare.

The airs of heaven blow o'er me; A glory shines before me Of what mankind shall be, — Pure, generous, brave, and free.

A dream of man and woman Diviner but still human, Solving the riddle old, Shaping the Age of Gold !

The love of God and neighbor; An equal-handed labor; The richer life, where beauty Walks hand in hand with duty.

Ring, bells in unreared steeples, The joy of unborn peoples ! Sound, trumpets far off blown, Your triumph is my own !

Parcel and part of all, I keep the festival, Fore-reach the good to be, And share the victory.

I feel the earth move sunward, I join the great march onward, And take, by faith, while living, My freehold of thanksgiving.

1870.

IN SCHOOL-DAYS.

STILL sits the school-house by the road, A ragged beggar sleeping; Around it still the sumachs grow, And blackberry-vines are creeping.

Within, the master's desk is seen, Deep scarred by raps official; The warping floor, the battered seats, The jack-knife's carved initial;

The charcoal frescos on its wall; Its door's worn sill, betraying The feet that, creeping slow to school, Went storming out to playing!

Long years ago a winter sun Shone over it at setting; Lit up its western window-panes, And low eaves' icy fretting.

IN SCHOOL-DAYS

It touched the tangled golden curls, And brown eyes full of grieving, Of one who still her steps delayed When all the school were leaving.

For near her stood the little boy Her childish favor singled : His cap pulled low upon a face Where pride and shame were mingled.

Pushing with restless feet the snow To right and left, he lingered; — As restlessly her tiny hands The blue-checked apron fingered.

He saw her lift her eyes ; he felt The soft hand's light caressing, And heard the tremble of her voice, As if a fault confessing.

"I'm sorry that I spelt the word: I hate to go above you, Because," — the brown eyes lower fell, — "Because you see, I love you!"

Still memory to a gray-haired man That sweet child-face is showing. Dear girl! the grasses on her grave Have forty years been growing!

He lives to learn, in life's hard school, How few who pass above him Lament their triumph and his loss, Like her, — because they love him. 1870.

MY BIRTHDAY.

BENEATH the moonlight and the snow Lies dead my latest year; The winter winds are wailing low Its dirges in my ear.

I grieve not with the moaning wind As if a loss befell; Before me, even as behind, God is, and all is well!

His light shines on me from above, His low voice speaks within, — The patience of immortal love Outwearying mortal sin.

Not mindless of the growing years Of care and loss and pain, My eyes are wet with thankful tears For blessings which remain.

If dim the gold of life has grown, I will not count it dross, Nor turn from treasures still my own To sigh for lack and loss.

The years no charm from Nature take ; As sweet her voices call,

MY BIRTHDAY

As beautiful her mornings break, As fair her evenings fall.

Love watches o'er my quiet ways, Kind voices speak my name, And lips that find it hard to praise Are slow, at least, to blame.

How softly ebb the tides of will ! How fields, once lost or won, Now lie behind me green and still

Beneath a level sun!

How hushed the hiss of party hate, The clamor of the throng ! How old, harsh voices of debate Flow into rhythmic song !

Methinks the spirit's temper grows Too soft in this still air; Somewhat the restful heart foregoes Of needed watch and prayer.

The bark by tempest vainly tossed May founder in the calm, And he who braved the polar frost Faint by the isles of balm.

Better than self-indulgent years The outflung heart of youth, Than pleasant songs in idle ears The tumult of the truth.

Rest for the weary hands is good, And love for hearts that pine, But let the manly habitude Of upright souls be mine.

Let winds that blow from heaven refresh, Dear Lord, the languid air; And let the weakness of the flesh Thy strength of spirit share.

And, if the eye must fail of light, The ear forget to hear, Make clearer still the spirit's sight, More fine the inward ear!

Be near me in mine hours of need To soothe, or cheer, or warn, And down these slopes of sunset lead

As up the hills of morn!

1871.

RED RIDING-HOOD.

On the wide lawn the snow lay deep, Ridged o'er with many a drifted heap; The wind that through the pine-trees sung The naked elm-boughs tossed and swung; While, through the window, frosty-starred, Against the sunset purple barred, We saw the sombre crow flap by, The hawk's gray fleck along the sky, The crested blue-jay flitting swift, The squirrel poising on the drift,

RED RIDING-HOOD

Erect, alert, his broad gray tail Set to the north wind like a sail.

It came to pass, our little lass, With flattened face against the glass, And eyes in which the tender dew Of pity shone, stood gazing through The narrow space her rosy lips Had melted from the frost's eclipse : "Oh, see," she cried, "the poor blue-jays ! What is it that the black crow says? The squirrel lifts his little legs Because he has no hands, and begs ; He 's asking for my nuts, I know: May I not feed them on the snow?"

Half lost within her boots, her head Warm-sheltered in her hood of red, Her plaid skirt close about her drawn, She floundered down the wintry lawn; Now struggling through the misty veil Blown round her by the shrieking gale; Now sinking in a drift so low Her scarlet hood could scarcely show Its dash of color on the snow.

She dropped for bird and beast forlorn Her little store of nuts and corn, And thus her timid guests bespoke : "Come, squirrel, from your hollow oak, — Come, black old crow, — come, poor blue-jay, Before your supper 's blown away ! Don't be afraid, we all are good ; And I 'm mamma's Red Riding-Hood ! "

O Thou whose care is over all, Who heedest even the sparrow's fall, Keep in the little maiden's breast The pity which is now its guest ! Let not her cultured years make less The childhood charm of tenderness, But let her feel as well as know, Nor harder with her polish grow ! Unmoved by sentimental grief That wails along some printed leaf, But, prompt with kindly word and deed To own the claims of all who need, Let the grown woman's self make good The promise of Red Riding-Hood ! 1877.

RESPONSE.

On the occasion of my seventieth birthday in 1877, I was the recipient of many tokens of esteem. The publishers of the Atlantic Monthly gave a dinner in my name, and the editor of The Literary World gathered in his paper many affectionate messages from my associates in literature and the cause of human progress. The lines which follow were written in acknowledgment.

BESIDE that milestone where the level sun,

Nigh unto setting, sheds his last, low rays On word and work irrevocably done,

Life's blending threads of good and ill outspun,

- I hear, O friends ! your words of cheer and praise,
- Half doubtful if myself or otherwise.

Like him who, in the old Arabian joke,

A beggar slept and crownëd Caliph woke.

Thanks not the less. With not unglad surprise I see my life-work through your partial eyes; Assured, in giving to my home-taught songs A higher value than of right belongs, You do but read between the written lines The finer grace of unfulfilled designs.

AT EVENTIDE.

Poor and inadequate the shadow-play Of gain and loss, of waking and of dream, Against life's solemn background needs must seem At this late hour. Yet, not unthankfully,

I call to mind the fountains by the way, The breath of flowers, the bird-song on the spray, Dear friends, sweet human loves, the joy of giving And of receiving, the great boon of living

In grand historic years when Liberty Had need of word and work, quick sympathies For all who fail and suffer, song's relief, Nature's uncloying loveliness; and chief,

The kind restraining hand of Providence,

The inward witness, the assuring sense Of an Eternal Good which overlies The sorrow of the world, Love which outlives All sin and wrong, Compassion which forgives To the uttermost, and Justice whose clear eyes Through lapse and failure look to the intent, And judge our frailty by the life we meant. 1878.

VOYAGE OF THE JETTIE.

The picturesquely situated Wayside Inn at West Ossipee, N. H., is now in ashes; and to its former guests these somewhat careless rhymes may be a not unwelcome reminder of pleasant summers and autumns on the banks of the Bearcamp and Chocorua. To the author himself they have a special interest from the fact that they were written, or improvised, under the eye and for the amusement of a beloved invalid friend whose last earthly sunsets faded from the mountain ranges of Ossipee and Sandwich.

A SHALLOW stream, from fountains, Deep in the Sandwich mountains, Ran lakeward Bearcamp River; And, between its flood-torn shores, Sped by sail or urged by oars No keel had vexed it ever.

Alone the dead trees yielding To the dull axe Time is wielding, The shy mink and the otter, And golden leaves and red, By countless autumns shed, Had floated down its water.

From the gray rocks of Cape Ann, Came a skilled seafaring man,

With his dory, to the right place; Over hill and plain he brought her, Where the boatless Bearcamp water

Comes winding down from White-Face.

Quoth the skipper : "Ere she floats forth, I'm sure my pretty boat's worth, At least, a name as pretty." On her painted side he wrote it, And the flag that o'er her floated Bore aloft the name of Jettie.

On a radiant morn of summer, Elder guest and latest comer Saw her wed the Bearcamp water; Heard the name the skipper gave her, And the answer to the favor From the Bay State's graceful daughter.

Then, a singer, richly gifted, Her charmëd voice uplifted; And the wood-thrush and song-sparrow Listened, dumb with envious pain, To the clear and sweet refrain Whose notes they could not borrow.

Then the skipper plied his oar, And from off the shelving shore,

Glided out the strange explorer; Floating on, she knew not whither, — The tawny sands beneath her,

The great hills watching o'er her.

On, where the stream flows quiet As the meadows' margins by it,

Or widens out to borrow a New life from that wild water, The mountain giant's daughter,

The pine-besung Chocorua.

Or, mid the tangling cumber And pack of mountain lumber

That spring floods downward force, Over sunken snag, and bar Where the grating shallows are, The good boat held her course.

Under the pine-dark highlands, Around the vine-hung islands, She ploughed her crooked furrow ; And her rippling and her lurches Scared the river eels and perches,

And the musk-rat in his burrow.

Every sober clam below her, Every sage and grave pearl-grower, Shut his rusty valves the tighter; Crow called to crow complaining, And old tortoises sat craning

Their leathern necks to sight her.

So, to where the still lake glasses The misty mountain masses

Rising dim and distant northward, And, with faint-drawn shadow pictures, Low shores, and dead pine spectres,

Blends the skyward and the earthward,

On she glided, overladen, With merry man and maiden Sending back their song and laughter, — While, perchance, a phantom crew, In a ghostly birch canoe, Paddled dumb and swiftly after ! And the bear on Ossipee Climbed the topmost erag to see The strange thing drifting under; And, through the haze of August, Passaconaway and Paugus

Looked down in sleepy wonder.

All the pines that o'er her hung In mimic sea-tones sung

The song familiar to her; And the maples leaned to screen her, And the meadow-grass seemed greener, And the breeze more soft to woo her.

The lone stream mystery-haunted, To her the freedom granted

To scan its every feature, Till new and old were blended, And round them both extended The loving arms of Nature.

Of these hills the little vessel Henceforth is part and parcel; And on Bearcamp shall her log Be kept, as if by George's Or Grand Menàn, the surges

Tossed her skipper through the fog.

And I, who, half in sadness, Recall the morning gladness Of life, at evening time, By chance, onlooking idly, Apart from all so widely, Have set her voyage to rhyme.

Dies now the gay persistence Of song and laugh, in distance; Alone with me remaining The stream, the quiet meadow, The hills in shine and shadow, The sombre pines complaining.

And, musing here, I dream Of voyagers on a stream From whence is no returning, Under sealëd orders going, Looking forward little knowing, Looking back with idle yearning.

And I pray that every venture The port of peace may enter, That, safe from snag and fall And siren-haunted islet, And rock, the Unseen Pilot May guide us one and all.

1880.

MY TRUST.

A PICTURE memory brings to me: I look across the years and see Myself beside my mother's knee.

I feel her gentle hand restrain My selfish moods, and know again A child's blind sense of wrong and pain.

MY TRUST

But wiser now, a man gray grown, My childhood's needs are better known, My mother's chastening love I own.

Gray grown, but in our Father's sight A child still groping for the light To read His works and ways aright.

I wait, in His good time to see That as my mother dealt with me So with His children dealeth He.

I bow myself beneath His hand : That pain itself was wisely planned I feel, and partly understand.

The joy that comes in sorrow's guise, The sweet pains of self-sacrifice, I would not have them otherwise.

And what were life and death if sin Knew not the dread rebuke within, The pang of merciful discipline?

Not with thy proud despair of old, Crowned stoic of Rome's noblest mould ! Pleasure and pain alike I hold.

I suffer with no vain pretence Of triumph over flesh and sense, Yet trust the grievous providence,

How dark soe'er it seems, may tend, By ways I cannot comprehend, To some unguessed benignant end;

That every loss and lapse may gain The clear-aired heights by steps of pain, And never cross is borne in vain.

1880.

A NAME.

Addressed to my grand-nephew, Greenleaf Whittier Pickard. Jonathan Greenleaf, in A Genealogy of the Greenleaf Family, says briefly: "From all that can be gathered, it is believed that the ancestors of the Greenleaf family were Huguenots, who left France on account of their religious principles some time in the course of the sixteenth century, and settled in England. The name was probably translated from the French Feuillevert."

THE name the Gallic exile bore, St. Malo! from thy ancient mart, Became upon our Western shore Greenleaf for Feuillevert.

A name to hear in soft accord Of leaves by light winds overrun, Or read, upon the greening sward Of May, in shade and sun.

The name my infant ear first heard Breathed softly with a mother's kiss; His mother's own, no tenderer word My father spake than this.

No child have I to bear it on; Be thou its keeper; let it take

A NAME

From gifts well used and duty done New beauty for thy sake.

The fair ideals that outran My halting footsteps seek and find — The flawless symmetry of man, The poise of heart and mind.

Stand firmly where I felt the sway Of every wing that fancy flew, See clearly where I groped my way, Nor real from seeming knew.

And wisely choose, and bravely hold Thy faith unswerved by cross or crown, Like the stout Huguenot of old Whose name to thee comes down.

As Marot's songs made glad the heart Of that lone exile, haply mine May in life's heavy hours impart Some strength and hope to thine.

Yet when did Age transfer to Youth The hard-gained lessons of its day? Each lip must learn the taste of truth, Each foot must feel its way.

We cannot hold the hands of choice That touch or shun life's fateful keys; The whisper of the inward voice Is more than homilies.

Dear boy! for whom the flowers are born, Stars shine, and happy song-birds sing, What can my evening give to morn, My winter to thy spring!

A life not void of pure intent, With small desert of praise or blame, The love I felt, the good I meant,

I leave thee with my name.

1880.

GREETING.

Originally prefixed to the volume, The King's Missive and other Poems.

I SPREAD a scanty board too late; The old-time guests for whom I wait Come few and slow, methinks, to-day. Ah! who could hear my messages Across the dim unsounded seas On which so many have sailed away!

Come, then, old friends, who linger yet, And let us meet, as we have met,

Once more beneath this low sunshine; And grateful for the good we've known, The riddles solved, the ills outgrown,

Shake hands upon the border line.

The favor, asked too oft before, From your indulgent ears, once more I crave, and, if belated lays To slower, feebler measures move, The silent sympathy of love To me is dearer now than praise.

And ye, O younger friends, for whom My hearth and heart keep open room,

Come smiling through the shadows long, Be with me while the sun goes down, And with your cheerful voices drown The minor of my even-song.

For, equal through the day and night, The wise Eternal oversight And love and power and righteous will Remain : the law of destiny The best for each and all must be, And life its promise shall fulfil.

And life its promise shall fulfil. 1881.

AN AUTOGRAPH.

I WRITE my name as one, On sands by waves o'errun Or winter's frosted pane, Traces a record vain.

Oblivion's blankness claims Wiser and better names, And well my own may pass As from the strand or glass.

Wash on, O waves of time! Melt, noons, the frosty rime!

Welcome the shadow vast, The silence that shall last!

When I and all who know And love me vanish so, What harm to them or me Will the lost memory be?

If any words of mine, Through right of life divine, Remain, what matters it Whose hand the message writ?

Why should the "crowner's quest" Sit on my worst or best? Why should the showman claim The poor ghost of my name?

Yet, as when dies a sound Its spectre lingers round, Haply my spent life will Leave some faint echo still.

A whisper giving breath Of praise or blame to death, Soothing or saddening such As loved the living much.

Therefore with yearnings vain And fond I still would fain A kindly judgment seek, A tender thought bespeak.

AN AUTOGRAPH

And, while my words are read, Let this at least be said : "Whate'er his life's defeatures, He loved his fellow-creatures.

- " If, of the Law's stone table, To hold he scarce was able The first great precept fast, He kept for man the last.
- "Through mortal lapse and dulness What lacks the Eternal Fulness, If still our weakness can Love Him in loving man?
- "Age brought him no despairing Of the world's future faring; In human nature still He found more good than ill.
- "To all who dumbly suffered, His tongue and pen he offered; His life was not his own, Nor lived for self alone.
- "Hater of din and riot He lived in days unquiet; And, lover of all beauty, Trod the hard ways of duty.
- "He meant no wrong to any He sought the good of many,

Yet knew both sin and folly, — May God forgive him wholly ! "

1882.

ABRAM MORRISON.

'MIDST the men and things which will Haunt an old man's memory still, Drollest, quaintest of them all, With a boy's laugh I recall Good old Abram Morrison.

When the Grist and Rolling Mill Ground and rumbled by Po Hill, And the old red school-house stood Midway in the Powow's flood, Here dwelt Abram Morrison.

From the Beach to far beyond Bear-Hill, Lion's Mouth and Pond, Marvellous to our tough old stock, Chips o' the Anglo-Saxon block, Seemed the Celtic Morrison.

Mudknock, Balmawhistle, all Only knew the Yankee drawl, Never brogue was heard till when, Foremost of his countrymen, Hither came Friend Morrison;

Yankee born, of alien blood, Kin of his had well withstood Pope and King with pike and ball Under Derry's leaguered wall, As became the Morrisons.

Wandering down from Nutfield woods With his household and his goods, Never was it clearly told How within our quiet fold Came to be a Morrison.

Once a soldier, blame him not That the Quaker he forgot, When, to think of battles won, And the red-coats on the run, Laughed aloud Friend Morrison.

From gray Lewis over sea Bore his sires their family tree, On the rugged boughs of it Grafting Irish mirth and wit, And the brogue of Morrison.

Half a genius, quick to plan, Blundering like an Irishman, But with canny shrewdness lent By his far-off Scotch descent, Such was Abram Morrison.

Back and forth to daily meals, Rode his cherished pig on wheels, And to all who came to see: "Aisier for the pig an' me, Sure it is," said Morrison.

Simple-hearted, boy o'er-grown, With a humor quite his own, Of our sober-stepping ways, Speech and look and cautious phrase, Slow to learn was Morrison.

Much we loved his stories told Of a country strange and old, Where the fairies danced till dawn, And the goblin Leprecaun Looked, we thought, like Morrison.

Or wild tales of feud and fight, Witch and troll and second sight Whispered still where Stornoway Looks across its stormy bay, Once the home of Morrisons.

First was he to sing the praise Of the Powow's winding ways; And our straggling village took City grandeur to the look Of its poet Morrison.

All his words have perished. Shame On the saddle-bags of Fame, That they bring not to our time One poor couplet of the rhyme Made by Abram Morrison!

When, on calm and fair First Days, Rattled down our one-horse chaise,

ABRAM MORRISON

Through the blossomed apple-boughs To the old, brown meeting-house, There was Abram Morrison.

Underneath his hat's broad brim Peered the queer old face of him; And with Irish jauntiness Swung the coat-tails of the dress Worn by Abram Morrison.

Still, in memory, on his feet, Leaning o'er the elders' seat, Mingling with a solemn drone, Celtic accents all his own, Rises Abram Morrison.

"Don't," he 's pleading, "don't ye go, Dear young friends, to sight and show, Don't run after elephants, Learned pigs and presidents And the likes!" said Morrison.

On his well-worn theme intent, Simple, child-like, innocent, Heaven forgive the half-checked smile Of our careless boyhood, while Listening to Friend Morrison !

We have learned in later days Truth may speak in simplest phrase; That the man is not the less For quaint ways and home-spun dress, Thanks to Abram Morrison!

Not to pander nor to please Come the needed homilies, With no lofty argument Is the fitting message sent, Through such lips as Morrison's.

Dead and gone! But while its track Powow keeps to Merrimac, While Po Hill is still on guard, Looking land and ocean ward, They shall tell of Morrison!

After half a century's lapse, We are wiser now, perhaps, But we miss our streets amid Something which the past has hid, Lost with Abram Morrison.

Gone forever with the queer Characters of that old year ! Now the many are as one; Broken is the mould that run Men like Abram Morrison.

1884.

A LEGACY.

FRIEND of my many years! When the great silence falls, at last, on me, Let me not leave, to pain and sadden thee, A memory of tears, But pleasant thoughts alone Of one who was thy friendship's honored guest And drank the wine of consolation pressed From sorrows of thy own.

I leave with thee a sense Of hands upheld and trials rendered less — The unselfish joy which is to helpfulness

Its own great recompense ;

The knowledge that from thine, As from the garments of the Master, stole Calmness and strength, the virtue which makes whole And heals without a sign;

Yea more, the assurance strong That love, which fails of perfect utterance here, Lives on to fill the heavenly atmosphere With its immortal song. 1887.

THE STAR OF BETHLEHEM.

WHERE Time the measure of his hours By changeful bud and blossom keeps, And, like a young bride crowned with flowers, Fair Shiraz in her garden sleeps;

Where, to her poet's turban stone, The Spring her gift of flowers imparts, Less sweet than those his thoughts have sown In the warm soil of Persian hearts:

There sat the stranger, where the shade Of scattered date-trees thinly lay, While in the hot clear heaven delayed The long and still and weary day.

Strange trees and fruits above him hung, Strange odors filled the sultry air, Strange birds upon the branches swung, Strange insect voices murmured there.

And strange bright blossoms shone around, Turned sunward from the shadowy bowers, As if the Gheber's soul had found A fitting home in Iran's flowers.



A THE PARTY OF A Treshord Will them



Whate'er he saw, whate'er he heard, Awakened feelings new and sad, — No Christian garb, nor Christian word, Nor church with Sabbath-bell chimes glad,

But Moslem graves, with turban stones, And mosque-spires gleaming white, in view, And graybeard Mollahs in low tones Chanting their Koran service through.

The flowers which smiled on either hand, Like tempting fiends, were such as they Which once, o'er all that Eastern land, As gifts on demon altars lay.

As if the burning eye of Baal The servant of his Conqueror knew, From skies which knew no cloudy veil, The Sun's hot glances smote him through.

"Ah me!" the lonely stranger said, "The hope which led my footsteps on, And light from heaven around them shed, O'er weary wave and waste, is gone!

"Where are the harvest fields all white, For Truth to thrust her sickle in? Where flock the souls, like doves in flight, From the dark hiding-place of sin?

"A silent horror broods o'er all, — The burden of a hateful spell, — The very flowers around recall The hoary magi's rites of hell!

190

"And what am I, o'er such a land The banner of the Cross to bear? Dear Lord, uphold me with Thy hand, Thy strength with human weakness share!"

He ceased; for at his very feet In mild rebuke a floweret smiled; How thrilled his sinking heart to greet The Star-flower of the Virgin's child!

Sown by some wandering Frank, it drew Its life from alien air and earth, And told to Paynim sun and dew The story of the Saviour's birth.

From scorching beams, in kindly mood, The Persian plants its beauty screened, And on its pagan sisterhood, In love, the Christian floweret leaned.

With tears of joy the wanderer felt The darkness of his long despair Before that hallowed symbol melt, Which God's dear love had nurtured there.

From Nature's face, that simple flower The lines of sin and sadness swept; And Magian pile and Paynim bower In peace like that of Eden slept.

Each Moslem tomb, and cypress old, Looked holy through the sunset air; And, angel-like, the Muezzin told From tower and mosque the hour of prayer. With cheerful steps, the morrow's dawn From Shiraz saw the stranger part; The Star-flower of the Virgin-Born Still blooming in his hopeful heart!

1830.

THE CITIES OF THE PLAIN.

"GET ye up from the wrath of God's terrible day! Ungirded, unsandalled, arise and away! 'T is the vintage of blood, 't is the fulness of time, And vengeance shall gather the harvest of crime!"

The warning was spoken - the righteous had gone, And the proud ones of Sodom were feasting alone; All gay was the banquet - the revel was long, With the pouring of wine and the breathing of song.

'T was an evening of beauty; the air was perfume, The earth was all greenness, the trees were all bloom:

And softly the delicate viol was heard,

Like the murmur of love or the notes of a bird.

And beautiful maidens moved down in the dance, With the magic of motion and sunshine of glance; And white arms wreathed lightly, and tresses fell free

As the plumage of birds in some tropical tree.

Where the shrines of foul idols were lighted on high,

And wantonness tempted the lust of the eye;

Midst rites of obsceneness, strange, loathsome, abhorred,

The blasphemer scoffed at the name of the Lord.

Hark! the growl of the thunder, — the quaking of earth!

Woe, woe to the worship, and woe to the mirth !

The black sky has opened; there's flame in the air;

The red arm of vengeance is lifted and bare !

Then the shriek of the dying rose wild where the song

And the low tone of love had been whispered along;

For the fierce flames went lightly o'er palace and bower,

Like the red tongues of demons, to blast and devour !

Down, down on the fallen the red ruin rained, And the reveller sank with his wine-cup undrained; The foot of the dancer, the music's loved thrill, And the shout and the laughter grew suddenly still.

The last throb of anguish was fearfully given; The last eye glared forth in its madness on Heaven! The last groan of horror rose wildly and vain, And death brooded over the pride of the Plain ! 1831.

THE CALL OF THE CHRISTIAN.

Not always as the whirlwind's rush On Horeb's mount of fear. Not always as the burning bush To Midian's shepherd seer, Nor as the awful voice which came To Israel's prophet bards, Nor as the tongues of cloven flame, Nor gift of fearful words, ----Not always thus, with outward sign Of fire or voice from Heaven. The message of a truth divine. The call of God is given ! Awaking in the human heart Love for the true and right. ----Zeal for the Christian's better part, Strength for the Christian's fight. Nor unto manhood's heart alone The holy influence steals : Warm with a rapture not its own. The heart of woman feels! As she who by Samaria's wall The Saviour's errand sought, ----As those who with the fervent Paul And meek Aquila wrought:

Or those meek ones whose martyrdom Rome's gathered grandeur saw: vol. II. 13

Or those who in their Alpine home Braved the Crusader's war. When the green Vaudois, trembling, heard, Through all its vales of death, The martyr's song of triumph poured From woman's failing breath. And gently, by a thousand things Which o'er our spirits pass, Like breezes o'er the harp's fine strings, Or vapors o'er a glass, Leaving their token strange and new Of music or of shade, The summons to the right and true And merciful is made. Oh, then, if gleams of truth and light Flash o'er thy waiting mind, Unfolding to thy mental sight The wants of human-kind : If, brooding over human grief, The earnest wish is known To soothe and gladden with relief An anguish not thine own; Though heralded with naught of fear, Or outward sign or show ; Though only to the inward ear It whispers soft and low; Though dropping, as the manna fell, Unseen, yet from above, Noiseless as dew-fall, heed it well, ---Thy Father's call of love! 1833.

194

THE CRUCIFIXION.

SUNLIGHT upon Judæa's hills! And on the waves of Galilee ; On Jordan's stream, and on the rills That feed the dead and sleeping sea!

Most freshly from the green wood springs The light breeze on its scented wings; And gayly quiver in the sun The cedar tops of Lebanon!

A few more hours, — a change hath come ! The sky is dark without a cloud ! The shouts of wrath and joy are dumb,

And proud knees unto earth are bowed. A change is on the hill of Death, The helmëd watchers pant for breath, And turn with wild and maniac eyes From the dark scene of sacrifice !

That Sacrifice ! — the death of Him, — The Christ of God, the holy One ! Well may the conscious Heaven grow dim, And blacken the beholding Sun. The wonted light hath fled away, Night settles on the middle day, And earthquake from his caverned bed Is waking with a thrill of dread !

The dead are waking underneath! Their prison door is rent away! And, ghastly with the seal of death, They wander in the eye of day!

The temple of the Cherubim, The House of God is cold and dim; A curse is on its trembling walls, Its mighty veil asunder falls!

Well may the cavern-depths of Earth Be shaken, and her mountains nod; Well may the sheeted dead come forth To see the suffering son of God! Well may the temple-shrine grow dim, And shadows veil the Cherubim, When He, the chosen one of Heaven, A sacrifice for guilt is given!

And shall the sinful heart, alone, Behold unmoved the fearful hour, When Nature trembled on her throne, And Death resigned his iron power? Oh, shall the heart — whose sinfulness Gave keenness to His sore distress, And added to His tears of blood — Refuse its trembling gratitude! 1834.

PALESTINE.

BLEST land of Judæa! thrice hallowed of song, Where the holiest of memories pilgrim-like throng; In the shade of thy palms, by the shores of thy

sea, On the hills of thy beauty, my heart is with thee.

196

PALESTINE

With the eye of a spirit I look on that shore Where pilgrim and prophet have lingered before; With the glide of a spirit I traverse the sod Made bright by the steps of the angels of God.

Blue sea of the hills ! in my spirit I hear

Thy waters, Gennesaret, chime on my ear;

- Where the Lowly and Just with the people sat down,
- And thy spray on the dust of His sandals was thrown.

Beyond are Bethulia's mountains of green, And the desolate hills of the wild Gadarene; And I pause on the goat-crags of Tabor to see The gleam of thy waters, O dark Galilee!

Hark, a sound in the valley! where, swollen and strong,

Thy river, O Kishon, is sweeping along;

Where the Canaanite strove with Jehovah in vain,

And thy torrent grew dark with the blood of the slain.

There down from his mountains stern Zebulon came,

And Naphthali's stag, with his eyeballs of flame,

And the chariots of Jabin rolled harmlessly on,

For the arm of the Lord was Abinoam's son !

There sleep the still rocks and the caverns which rang

To the song which the beautiful prophetess sang,

When the princes of Issachar stood by her side, And the shout of a host in its triumph replied.

Lo, Bethlehem's hill-site before me is seen, With the mountains around, and the valleys between;

There rested the shepherds of Judah, and there The song of the angels rose sweet on the air.

And Bethany's palm-trees in beauty still throw Their shadows at noon on the ruins below; But where are the sisters who hastened to greet The lowly Redeemer, and sit at His feet?

- I tread where the twelve in their wayfaring trod;
- I stand where they stood with the chosen of God ---
- Where His blessing was heard and His lessons were taught,
- Where the blind were restored and the healing was wrought.

Oh, here with His flock the sad Wanderer came; These hills He toiled over in grief are the same;

The founts where He drank by the wayside still flow,

And the same airs are blowing which breathed on His brow !

And throned on her hills sits Jerusalem yet,

But with dust on her forehead, and chains on her feet;

For the crown of her pride to the mocker hath gone,

And the holy Shechinah is dark where it shone.

But wherefore this dream of the earthly abode Of Humanity clothed in the brightness of God? Were my spirit but turned from the outward and dim,

It could gaze, even now, on the presence of Him!

Not in clouds and in terrors, but gentle as when, In love and in meekness, He moved among men; And the voice which breathed peace to the waves of the sea

In the hush of my spirit would whisper to me!

And what if my feet may not tread where He stood, Nor my ears hear the dashing of Galilee's flood, Nor my eyes see the cross which He bowed Him to bear.

Nor my knees press Gethsemane's garden of prayer.

Yet, Loved of the Father, Thy Spirit is near To the meek, and the lowly, and penitent here; And the voice of Thy love is the same even now As at Bethany's tomb or on Olivet's brow.

Oh, the outward hath gone! but in glory and power,

The spirit surviveth the things of an hour ;

Unchanged, undecaying, its Pentecost flame

On the heart's secret altar is burning the same ! 1837.

HYMNS.

FROM THE FRENCH OF LAMARTINE.

I.

"Encore un hymne, O ma lyre! Un hymne pour le Seigneur, Un hymne dans mon délire, Un hymne dans mon bonheur."

ONE hymn more, O my lyre ! Praise to the God above, Of joy and life and love, Sweeping its strings of fire !

Oh, who the speed of bird and wind And sunbeam's glance will lend to me, That, soaring upward, I may find My resting-place and home in Thee? Thou, whom my soul, midst doubt and gloom, Adoreth with a fervent flame, --Mysterious spirit ! unto whom Pertain nor sign nor name! Swiftly my lyre's soft murmurs go, Up from the cold and joyless earth, Back to the God who bade them flow. Whose moving spirit sent them forth. But as for me. O God! for me. The lowly creature of Thy will, Lingering and sad, I sigh to Thee, An earth-bound pilgrim still!

Was not my spirit born to shine Where yonder stars and suns are glowing? To breathe with them the light divine From God's own holy altar flowing? To be, indeed, whate'er the soul In dreams hath thirsted for so long. --A portion of heaven's glorious whole Of loveliness and song? Oh, watchers of the stars at night, Who breathe their fire, as we the air, --Suns, thunders, stars, and rays of light, Oh, say, is He, the Eternal, there? Bend there around His awful throne The seraph's glance, the angel's knee? Or are thy inmost depths His own, O wild and mighty sea? Thoughts of my soul, how swift ye go !

Swift as the eagle's glance of fire, Or arrows from the archer's bow, To the far aim of your desire ! Thought after thought, ye thronging rise, Like spring-doves from the startled wood, Bearing like them your sacrifice Of music unto God !

And shall these thoughts of joy and love Come back again no more to me? Returning like the patriarch's dove Wing-weary from the eternal sea, To bear within my longing arms The promise-bough of kindlier skies,

Plucked from the green, immortal palms Which shadow Paradise?

All-moving spirit! freely forth

At Thy command the strong wind goes : Its errand to the passive earth,

Nor art can stay, nor strength oppose, Until it folds its weary wing

Once more within the hand divine; So, weary from its wandering,

My spirit turns to Thine !

Child of the sea, the mountain stream, From its dark caverns, hurries on, Ceaseless, by night and morning's beam, By evening's star and noontide's sun, Until at last it sinks to rest, O'erwearied, in the waiting sea, And moans upon its mother's breast, —

So turns my soul to Thee!

O Thou who bidst the torrent flow, Who lendest wings unto the wind, — Mover of all things ! where art Thou ? Oh, whither shall I go to find The secret of Thy resting-place? Is there no holy wing for me, That, soaring, I may search the space Of highest heaven for Thee ?

Oh, would I were as free to rise

As leaves on autumn's whirlwind borne, — The arrowy light of sunset skies,

he arrowy light of subset skies,

Or sound, or ray, or star of morn,

202

HYMNS

Which melts in heaven at twilight's close, Or aught which soars unchecked and free Through earth and heaven; that I might lose Myself in finding Thee!

II.

LE CRI DE L'AME.

"Quand le souffle divin qui flotte sur le monde."

When the breath divine is flowing. Zephyr-like o'er all things going, And, as the touch of viewless fingers, Softly on my soul it lingers. Open to a breath the lightest, Conscious of a touch the slightest, -As some calm, still lake, whereon Sinks the snowy-bosomed swan, And the glistening water-rings Circle round her moving wings: When my upward gaze is turning Where the stars of heaven are burning Through the deep and dark abyss, ----Flowers of midnight's wilderness, Blowing with the evening's breath Sweetly in their Maker's path: When the breaking day is flushing All the east, and light is gushing Upward through the horizon's haze, Sheaf-like, with its thousand rays, Spreading, until all above Overflows with joy and love,

And below, on earth's green bosom, All is changed to light and blossom :

When my waking fancies over Forms of brightness flit and hover Holy as the seraphs are, Who by Zion's fountains wear On their foreheads, white and broad, "Holiness unto the Lord!" When, inspired with rapture high, It would seem a single sigh Could a world of love create; That my life could know no date, And my eager thoughts could fill Heaven and Earth, o'erflowing still!

Then, O Father! Thou alone, From the shadow of Thy throne, To the sighing of my breast And its rapture answerest. All my thoughts, which, upward winging, Bathe where Thy own light is springing, — All my yearnings to be free Are as echoes answering Thee!

Seldom upon lips of mine, Father ! rests that name of Thine ; Deep within my inmost breast,

In the secret place of mind, Like an awful presence shrined, Doth the dread idea rest! Hushed and holy dwells it there, Prompter of the silent prayer,

 $\mathbf{204}$

THE FAMILIST'S HYMN

Lifting up my spirit's eye And its faint, but earnest cry, From its dark and cold abode, Unto Thee, my Guide and God!

1837.

THE FAMILIST'S HYMN.

The Puritans of New England, even in their wilderness home, were not exempted from the sectarian contentions which agitated the mother country after the downfall of Charles the First, and of the established Episcopacy. The Quakers, Baptists, and Catholics were banished, on pain of death, from the Massachusetts Colony. One Samuel Gorton, a bold and eloquent declaimer, after preaching for a time in Boston against the doctrines of the Puritans, and declaring that their churches were mere human devices. and their sacrament and baptism an abomination, was driven out of the jurisdiction of the colony, and compelled to seek a residence among the savages. He gathered round him a considerable number of converts, who, like the primitive Christians, shared all things in common. His opinions, however, were so troublesome to the leading clergy of the colony, that they instigated an attack upon his "Family" by an armed force, which seized upon the principal men in it, and brought them into Massachusetts, where they were sentenced to be kept at hard labor in several towns (one only in each town), during the pleasure of the General Court, they being forbidden, under severe penalties, to utter any of their religious sentiments, except to such ministers as might labor for their conversion. They were unquestionably sincere in their opinions, and, whatever may have been their errors, deserve to be ranked among those who have in all ages suffered for the freedom of conscience.

FATHER! to Thy suffering poor Strength and grace and faith impart, And with Thy own love restore Comfort to the broken heart! Oh, the failing ones confirm With a holier strength of zeal! Give Thou not the feeble worm Helpless to the spoiler's heel !

Father ! for Thy holy sake We are spoiled and hunted thus ; Joyful, for Thy truth we take Bonds and burthens unto us : Poor, and weak, and robbed of all, Weary with our daily task, That Thy truth may never fall Through our weakness, Lord, we ask.

Round our fired and wasted homes Flits the forest-bird unscared, And at noon the wild beast comes Where our frugal meal was shared; For the song of praises there Shrieks the crow the livelong day; For the sound of evening prayer Howls the evil beast of prey!

Sweet the songs we loved to sing Underneath Thy holy sky; Words and tones that used to bring Tears of joy in every eye; Dear the wrestling hours of prayer, When we gathered knee to knee, Blameless youth and hoary hair, Bowed, O God, alone to Thee.

As Thine early children, Lord, Shared their wealth and daily bread, Even so, with one accord, We, in love, each other fed. Not with us the miser's hoard, Not with us his grasping hand; Equal round a common board, Drew our meek and brother band !

Safe our quiet Eden lay When the war-whoop stirred the land And the Indian turned away From our home his bloody hand. Well that forest-ranger saw, That the burthen and the curse Of the white man's cruel law Rested also upon us.

Torn apart, and driven forth To our toiling hard and long, Father ! from the dust of earth Lift we still our grateful song ! Grateful, that in bonds we share In Thy love which maketh free ; Joyful, that the wrongs we bear, Draw us nearer, Lord, to Thee ! Grateful ! that where'er we toil, — By Wachuset's wooded side, On Nantucket's sea-worn isle, Or by wild Neponset's tide, —

Still, in spirit, we are near,

And our evening hymns, which rise Separate and discordant here,

Meet and mingle in the skies!

Let the scoffer scorn and mock, Let the proud and evil priest Rob the needy of his flock, For his wine-cup and his feast, — Redden not Thy bolts in store Through the blackness of Thy skies ? For the sighing of the poor Wilt Thou not, at length, arise ?

Worn and wasted, oh ! how long Shall thy trodden poor complain ? In Thy name they bear the wrong, In Thy cause the bonds of pain ! Melt oppression's heart of steel, Let the haughty priesthood see, And their blinded followers feel, That in us they mock at Thee !

In Thy time, O Lord of hosts, Stretch abroad that hand to save Which of old, on Egypt's coasts, Smote apart the Red Sea's wave ! Lead us from this evil land, From the spoiler set us free, And once more our gathered band, Heart to heart, shall worship Thee ! 1838.

208

EZEKIEL.

Also, thou son of man, the children of thy people still are talking against thee by the walls and in the doors of the houses, and speak one to another, every one to his brother, saying, Come, I pray you, and hear what is the word that cometh forth from the Lord. And they come unto thee as the people cometh, and they sit before thee as my people, and they hear thy words, but they will not do them: for with their mouth they shew much love, but their heart goeth after their covetousness. And, lo, thou art unto them as a very lovely song of one that hath a pleasant voice, and can play well on an instrument: for they hear thy words, but they do them not. And when this cometh to pass, (lo, it will come,) then shall they know that a prophet hath been among them. — EZEKIEL, XXXIII. 30–33.

THEY hear Thee not, O God! nor see; Beneath Thy rod they mock at Thee; The princes of our ancient line Lie drunken with Assyrian wine; The priests around Thy altar speak The false words which their hearers seek; And hymns which Chaldea's wanton maids Have sung in Dura's idol-shades Are with the Levites' chant ascending, With Zion's holiest anthems blending!

On Israel's bleeding bosom set, The heathen heel is crushing yet; The towers upon our holy hill Echo Chaldean footsteps still. Our wasted shrines, — who weeps for them? Who mourneth for Jerusalem? Who turneth from his gains away? Whose knee with mine is bowed to pray?

Who, leaving feast and purpling cup, Takes Zion's lamentation up?

A sad and thoughtful youth, I went With Israel's early banishment; And where the sullen Chebar crept, The ritual of my fathers kept. The water for the trench I drew, The firstling of the flock I slew, And, standing at the altar's side, I shared the Levites' lingering pride, That still, amidst her mocking foes, The smoke of Zion's offering rose.

In sudden whirlwind, cloud and flame, The Spirit of the Highest came ! Before mine eyes a vision passed, A glory terrible and vast; With dreadful eyes of living things, And sounding sweep of angel wings, With circling light and sapphire throne, And flame-like form of One thereon, And voice of that dread Likeness sent Down from the crystal firmament!

The burden of a prophet's power Fell on me in that fearful hour; From off unutterable woes The curtain of the future rose; I saw far down the coming time The fiery chastisement of crime; With noise of mingling hosts, and jar Of falling towers and shouts of war,

210

EZEKIEL

I saw the nations rise and fall, Like fire-gleams on my tent's white wall.

In dream and trance, I saw the slain Of Egypt heaped like harvest grain. I saw the walls of sea-born Tyre Swept over by the spoiler's fire; And heard the low, expiring moan Of Edom on his rocky throne; And, woe is me! the wild lament From Zion's desolation sent; And felt within my heart each blow Which laid her holy places low.

In bonds and sorrow, day by day, Before the pictured tile I lay; And there, as in a mirror, saw The coming of Assyria's war; Her swarthy lines of spearmen pass Like locusts through Bethhoron's grass; I saw them draw their stormy hem Of battle round Jerusalem; And, listening, heard the Hebrew wail Blend with the victor-trump of Baal!

Who trembled at my warning word? Who owned the prophet of the Lord? How mocked the rude, how scoffed the vile, How stung the Levites' scornful smile, As o'er my spirit, dark and slow, The shadow crept of Israel's woe As if the angel's mournful roll Had left its record on my soul,

And traced in lines of darkness there The picture of its great despair!

Yet ever at the hour I feel My lips in prophecy unseal. Prince, priest, and Levite gather near, And Salem's daughters haste to hear, On Chebar's waste and alien shore, The harp of Judah swept once more. They listen, as in Babel's throng The Chaldeans to the dancer's song, Or wild sabbeka's nightly play, As careless and as vain as they.

And thus, O Prophet-bard of old, Hast thou thy tale of sorrow told ! The same which earth's unwelcome seers Have felt in all succeeding years. Sport of the changeful multitude, Nor calmly heard nor understood, Their song has seemed a trick of art, Their warnings but the actor's part. With bonds, and scorn, and evil will, The world requites its prophets still.

So was it when the Holy One The garments of the flesh put on ! Men followed where the Highest led For common gifts of daily bread, And gross of ear, of vision dim, Owned not the Godlike power of Him. Vain as a dreamer's words to them His wail above Jerusalem, And meaningless the watch He kept Through which His weak disciples slept.

Yet shrink not thou, whoe'er thou art, For God's great purpose set apart, Before whose far-discerning eyes, The Future as the Present lies ! Beyond a narrow-bounded age Stretches thy prophet-heritage, Through Heaven's vast spaces angel-trod, And through the eternal years of God ! Thy audience, worlds ! — all things to be The witness of the Truth in thee ! 1844.

WHAT THE VOICE SAID.

MADDENED by Earth's wrong and evil, "Lord!" I cried in sudden ire, "From Thy right hand, clothed with thunder, Shake the bolted fire!

"Love is lost, and Faith is dying; With the brute the man is sold; And the dropping blood of labor Hardens into gold.

"Here the dying wail of Famine, There the battle's groan of pain; And, in silence, smooth-faced Mammon Reaping men like grain.

214

- "' Where is God, that we should fear Him?' Thus the earth-born Titans say;
 - 'God ! if Thou art living, hear us !' Thus the weak ones pray."
 - "Thou, the patient Heaven upbraiding," Spake a solemn Voice within;
 - "Weary of our Lord's forbearance, Art thou free from sin?
 - "Fearless brow to Him uplifting, Canst thou for His thunders call, Knowing that to guilt's attraction Evermore they fall?
 - "Know'st thou not all germs of evil In thy heart await their time? Not thyself, but God's restraining, Stays their growth of crime.
 - "Couldst thou boast, O child of weakness ! O'er the sons of wrong and strife, Were their strong temptations planted In thy path of life ?
 - "Thou hast seen two streamlets gushing From one fountain, clear and free, But by widely varying channels Searching for the sea.
 - "Glideth one through greenest valleys, Kissing them with lips still sweet;

- One, mad roaring down the mountains, Stagnates at their feet.
- " Is it choice whereby the Parsee Kneels before his mother's fire? In his black tent did the Tartar Choose his wandering sire?
- "He alone, whose hand is bounding Human power and human will, Looking through each soul's surrounding, Knows its good or ill.
- "For thyself, while wrong and sorrow Make to thee their strong appeal, Coward wert thou not to utter What the heart must feel.
- "Earnest words must needs be spoken When the warm heart bleeds or burns With its scorn of wrong, or pity For the wronged, by turns.
 - "But, by all thy nature's weakness, Hidden faults and follies known, Be thou, in rebuking evil, Conscious of thine own.
 - "Not the less shall stern-eyed Duty To thy lips her trumpet set, But with harsher blasts shall mingle Wailings of regret."

Cease not, Voice of holy speaking, Teacher sent of God, be near, Whispering through the day's cool silence, Let my spirit hear !

So, when thoughts of evil-doers Waken scorn, or hatred move, Shall a mournful fellow-feeling Temper all with love.

THE ANGEL OF PATIENCE.

A FREE PARAPHRASE OF THE GERMAN.

To weary hearts, to mourning homes, God's meekest Angel gently comes : No power has he to banish pain, Or give us back our lost again ; And yet in tenderest love, our dear And Heavenly Father sends him here.

There 's quiet in that Angel's glance, There 's rest in his still countenance ! He mocks no grief with idle cheer, Nor wounds with words the mourner's ear ; But ills and woes he may not cure He kindly trains us to endure.

Angel of Patience! sent to calm Our feverish brows with cooling palm; To lay the storms of hope and fear, And reconcile life's smile and tear; The throbs of wounded pride to still, And make our own our Father's will !

O thou who mournest on thy way, With longings for the close of day; He walks with thee, that Angel kind, And gently whispers, "Be resigned: Bear up, bear on, the end shall tell The dear Lord ordereth all things well!"

1847.

THE WIFE OF MANOAH TO HER HUSBAND.

AGAINST the sunset's glowing wall The city towers rise black and tall, Where Zorah, on its rocky height, Stands like an armed man in the light.

Down Eshtaol's vales of ripened grain Falls like a cloud the night amain, And up the hillsides climbing slow The barley reapers homeward go.

Look, dearest! how our fair child's head The sunset light hath hallowëd, Where at this olive's foot he lies, Uplooking to the tranquil skies.

Oh, while beneath the fervent heat Thy sickle swept the bearded wheat, I 've watched, with mingled joy and dread, Our child upon his grassy bed.

218

Joy, which the mother feels alone Whose morning hope like mine had flown, When to her bosom, over-blessed, A dearer life than hers is pressed.

Dread, for the future dark and still, Which shapes our dear one to its will; Forever in his large calm eyes, I read a tale of sacrifice.

The same foreboding awe I felt When at the altar's side we knelt, And he, who as a pilgrim came, Rose, winged and glorious, through the flame.

I slept not, though the wild bees made A dreamlike murmuring in the shade, And on me the warm-fingered hours Pressed with the drowsy smell of flowers.

Before me, in a vision, rose The hosts of Israel's scornful foes, — Rank over rank, helm, shield, and spear, Glittered in noon's hot atmosphere.

I heard their boast, and bitter word, Their mockery of the Hebrew's Lord, I saw their hands His ark assail, Their feet profane His holy veil.

No angel down the blue space spoke, No thunder from the still sky broke ; But in their midst, in power and awe, Like God's waked wrath, our child I saw !

THE WIFE OF MANOAH

A child no more ! — harsh-browed and strong, He towered a giant in the throng, And down his shoulders, broad and bare, Swept the black terror of his hair.

He raised his arm — he smote amain; As round the reaper falls the grain, So the dark host around him fell, So sank the foes of Israel!

Again I looked. In sunlight shone The towers and domes of Askelon; Priest, warrior, slave, a mighty crowd Within her idol temple bowed.

Yet one knelt not; stark, gaunt, and blind, His arms the massive pillars twined, — An eyeless captive, strong with hate, He stood there like an evil Fate.

The red shrines smoked, — the trumpets pealed : He stooped, — the giant columns reeled; Reeled tower and fane, sank arch and wall, And the thick dust-cloud closed o'er all !

Above the shriek, the crash, the groan Of the fallen pride of Askelon, I heard, sheer down the echoing sky, A voice as of an angel cry, —

The voice of him, who at our side Sat through the golden eventide; Of him who, on thy altar's blaze, Rose fire-winged, with his song of praise.

220

"Rejoice o'er Israel's broken chain, Gray mother of the mighty slain! Rejoice!" it cried, "he vanquisheth! The strong in life is strong in death!

- "To him shall Zorah's daughters raise Through coming years their hymns of praise, And gray old men at evening tell Of all he wrought for Israel.
- "And they who sing and they who hear Alike shall hold thy memory dear, And pour their blessings on thy head, O mother of the mighty dead !"

It ceased; and though a sound I heard As if great wings the still air stirred, I only saw the barley sheaves And hills half hid by olive leaves.

I bowed my face, in awe and fear, On the dear child who slumbered near; "With me, as with my only son,

O God," I said, "Thy will be done !" 1847.

MY SOUL AND I.

STAND still, my soul, in the silent dark I would question thee, Alone in the shadow drear and stark With God and me! What, my soul, was thy errand here? Was it mirth or ease, Or heaping up dust from year to year? "Nay, none of these!"

Speak, soul, aright in His holy sight Whose eye looks still And steadily on thee through the night : "To do His will!"

What hast thou done, O soul of mine, That thou tremblest so?

Hast thou wrought His task, and kept the line He bade thee go?

What, silent all ! art sad of cheer ? Art fearful now ?

When God seemed far and men were near, How brave wert thou!

Aha! thou tremblest! — well I see Thou 'rt craven grown.

Is it so hard with God and me To stand alone?

Summon thy sunshine bravery back, O wretched sprite ! Let me been thy using through this doop of

Let me hear thy voice through this deep and black Abysmal night.

What hast thou wrought for Right and Truth, For God and Man, From the golden hours of bright-eyed youth To life's mid span?

Ah, soul of mine, thy tones I hear, But weak and low, Like far sad murmurs on my ear They come and go.

"I have wrestled stoutly with the Wrong, And borne the Right From beneath the footfall of the throng

To life and light.

"Wherever Freedom shivered a chain, God speed, quoth I;

To Error amidst her shouting train I gave the lie."

Ah, soul of mine ! ah, soul of mine ! Thy deeds are well :

Were they wrought for Truth's sake or for thine? My soul, pray tell.

"Of all the work my hand hath wrought Beneath the sky, Save a place in kindly human thought, No gain have I."

Go to, go to ! for thy very self Thy deeds were done :

Thou for fame, the miser for pelf, Your end is one!

And where art thou going, soul of mine? Canst see the end? And whither this troubled life of thine Evermore doth tend? What daunts thee now? what shakes thee so? My sad soul say. "I see a cloud like a curtain low Hang o'er my way.

"Whither I go I cannot tell: That cloud hangs black, High as the heaven and deep as hell Across my track.

" I see its shadow coldly enwrap The souls before.

Sadly they enter it, step by step, To return no more.

"They shrink, they shudder, dear God! they kneel To Thee in prayer.

They shut their eyes on the cloud, but feel That it still is there.

" In vain they turn from the dread Before To the Known and Gone;

For while gazing behind them evermore Their feet glide on.

"Yet, at times, I see upon sweet pale faces A light begin

To tremble, as if from holy places And shrines within.

"And at times methinks their cold lips move With hymn and prayer, As if somewhat of awe, but more of love And hope were there.

"I call on the souls who have left the light To reveal their lot; I bend mine ear to that wall of night, And they answer not.

"But I hear around me sighs of pain And the cry of fear, And a sound like the slow sad dropping of rain, Each drop a tear!

"Ah, the cloud is dark, and day by day I am moving thither: I must pass beneath it on my way — God pity me! — whither?"

Ah, soul of mine ! so brave and wise In the life-storm loud, Fronting so calmly all human eyes In the sunlit crowd !

Now standing apart with God and me Thou art weakness all, Gazing vainly after the things to be Through Death's dread wall.

But never for this, never for this Was thy being lent;

For the craven's fear is but selfishness, Like his merriment.

Folly and Fear are sisters twain: One closing her eyes, The other peopling the dark inane With spectral lies.

Know well, my soul, God's hand controls Whate'er thou fearest; Round Him in calmest music rolls Whate'er thou hearest.

What to thee is shadow, to Him is day, And the end He knoweth, And not on a blind and aimless way

The spirit goeth.

Man sees no future, — a phantom show Is alone before him ;

Past Time is dead, and the grasses grow, And flowers bloom o'er him.

Nothing before, nothing behind; The steps of Faith

Fall on the seeming void, and find The rock beneath.

The Present, the Present is all thou hast For thy sure possessing ;

Like the patriarch's angel hold it fast Till it gives its blessing.

Why fear the night? why shrink from Death, That phantom wan?

There is nothing in heaven or earth beneath Save God and man.

Peopling the shadows we turn from Him And from one another;

All is spectral and vague and dim Save God and our brother ! vol. II. 15

Like warp and woof all destinies Are woven fast, Linked in sympathy like the keys Of an organ vast.

Pluck one thread, and the web ye mar ; Break but one

Of a thousand keys, and the paining jar Through all will run.

O restless spirit! wherefore strain Beyond thy sphere? Heaven and hell, with their joy and pain, Are now and here.

Back to thyself is measured well All thou hast given; Thy neighbor's wrong is thy present hell, His bliss, thy heaven.

And in life, in death, in dark and light, All are in God's care : Sound the black abyss, pierce the deep of night, And He is there!

All which is real now remaineth, And fadeth never: The hand which upholds it now sustaineth The soul forever.

Leaning on Him, make with reverent meekness His own thy will,

WORSHIP

- And with strength from Him shall thy utter weakness Life's task fulfil :
- And that cloud itself, which now before thee Lies dark in view,
- Shall with beams of light from the inner glory Be stricken through.
- And like meadow mist through autumn's dawn Uprolling thin,
- Its thickest folds when about thee drawn Let sunlight in.
- Then of what is to be, and of what is done, Why queriest thou?
- The past and the time to be are one,

And both are now !

1847.

WORSHIP.

"Pure religion and undefiled before God and the Father is this, To visit the fatherless and widows in their affliction, and to keep himself unspotted from the world." — JAMES i. 27.

THE Pagan's myths through marble lips are spoken, And ghosts of old Beliefs still flit and moan Round fane and altar overthrown and broken, O'er tree-grown barrow and gray ring of stone.

Blind Faith had martyrs in those old high places, The Syrian hill grove and the Druid's wood,

With mother's offering, to the Fiend's embraces, Bone of their bone, and blood of their own blood.

Red altars, kindling through that night of error, Smoked with warm blood beneath the cruel eye Of lawless Power and sanguinary Terror,

Throned on the circle of a pitiless sky;

Beneath whose baleful shadow, overcasting

All heaven above, and blighting earth below,

The scourge grew red, the lip grew pale with fasting,

And man's oblation was his fear and woe !

Then through great temples swelled the dismal moaning

Of dirge-like music and sepulchral prayer;

Pale wizard priests, o'er occult symbols droning, Swung their white censers in the burdened air:

As if the pomp of rituals, and the savor

Of gums and spices could the Unseen One please;

As if His ear could bend, with childish favor,

To the poor flattery of the organ keys !

Feet red from war-fields trod the church aisles holy, With trembling reverence: and the oppressor there.

Kneeling before his priest, abased and lowly,

Crushed human hearts beneath his knee of prayer.

WORSHIP

Not such the service the benignant Father Requireth at His earthly children's hands: Not the poor offering of vain rites, but rather The simple duty man from man demands.

For Earth He asks it : the full joy of heaven Knoweth no change of waning or increase; The great heart of the Infinite beats even, Untroubled flows the river of His peace.

He asks no taper lights, on high surrounding The priestly altar and the saintly grave, No dolorous chant nor organ music sounding, Nor incense clouding up the twilight nave.

- For he whom Jesus loved hath truly spoken : The holier worship which he deigns to bless Restores the lost, and binds the spirit broken, And feeds the widow and the fatherless !
- Types of our human weakness and our sorrow! Who lives unhaunted by his loved ones dead? Who, with vain longing, seeketh not to borrow From stranger eyes the home lights which have fled?
- O brother man! fold to thy heart thy brother; Where pity dwells, the peace of God is there; To worship rightly is to love each other, Each smile a hymn, each kindly deed a prayer.
- Follow with reverent steps the great example Of Him whose holy work was "doing good;"

So shall the wide earth seem our Father's temple, Each loving life a psalm of gratitude.

Then shall all shackles fall; the stormy clangor Of wild war music o'er the earth shall cease;

Love shall tread out the baleful fire of anger, And in its ashes plant the tree of peace! 1848.

THE HOLY LAND.

Paraphrased from the lines in Lamartine's Adieu to Marseilles, beginning

"Je n'ai pas navigué sur l'océan de sable."

I HAVE not felt, o'er seas of sand, The rocking of the desert bark ; Nor laved at Hebron's fount my hand, By Hebron's palm-trees cool and dark ; Nor pitched my tent at even-fall, On dust where Job of old has lain. Nor dreamed beneath its canvas wall, The dream of Jacob o'er again. One vast world-page remains unread ; How shine the stars in Chaldea's sky, How sounds the reverent pilgrim's tread, How beats the heart with God so nigh! How round gray arch and column lone The spirit of the old time broods, And sighs in all the winds that moan Along the sandy solitudes!

In thy tall cedars, Lebanon, I have not heard the nations' cries,

Nor seen thy eagles stooping down Where buried Tyre in ruin lies. The Christian's prayer I have not said In Tadmor's temples of decay, Nor startled, with my dreary tread, The waste where Memnon's empire lay. Nor have I, from thy hallowed tide. O Jordan! heard the low lament. Like that sad wail along thy side Which Israel's mournful prophet sent! Nor thrilled within that grotto lone Where, deep in night, the Bard of Kings Felt hands of fire direct his own, And sweep for God the conscious strings. I have not climbed to Olivet, Nor laid me where my Saviour lay, And left His trace of tears as yet By angel eyes unwept away; Nor watched, at midnight's solemn time, The garden where His prayer and groan, Wrung by His sorrow and our crime, Rose to One listening ear alone. I have not kissed the rock-hewn grot Where in His mother's arms He lav. Nor knelt upon the sacred spot

Where last His footsteps pressed the clay; Nor looked on that sad mountain head,

Nor smote my sinful breast, where wide His arms to fold the world He spread,

And bowed His head to bless — and died ! 1848.

THE REWARD.

WHO, looking backward from his manhood's prime,
Sees not the spectre of his misspent time? And, through the shade
Of funeral cypress planted thick behind,
Hears no reproachful whisper on the wind From his loved dead?

Who bears no trace of passion's evil force? Who shuns thy sting, O terrible Remorse? Who does not cast On the thronged pages of his memory's book, At times, a sad and half-reluctant look, Regretful of the past?

Alas! the evil which we fain would shun We do, and leave the wished-for good undone: Our strength to-day Is but to-morrow's weakness, prone to fall; Poor, blind, unprofitable servants all

Are we alway.

Yet who, thus looking backward o'er his years, Feels not his eyelids wet with grateful tears, If he hath been Permitted, weak and sinful as he was, To cheer and aid, in some ennobling cause, His fellow-men?

If he hath hidden the outcast, or let in A ray of sunshine to the cell of sin; If he hath lent

THE WISH OF TO-DAY

Strength to the weak, and, in an hour of need, Over the suffering, mindless of his creed Or home, hath bent;

He has not lived in vain, and while he gives The praise to Him, in whom he moves and lives, With thankful heart; He gazes backward, and with hope before, Knowing that from his works he nevermore Can henceforth part. 1848.

THE WISH OF TO-DAY.

I ASK not now for gold to gild With mocking shine a weary frame; The yearning of the mind is stilled, I ask not now for Fame.

A rose-cloud, dimly seen above, Melting in heaven's blue depths away; Oh, sweet, fond dream of human Love! For thee I may not pray.

But, bowed in lowliness of mind, I make my humble wishes known; I only ask a will resigned, O Father, to Thine own !

To-day, beneath Thy chastening eye I crave alone for peace and rest, Submissive in Thy hand to lie, And feel that it is best. A marvel seems the Universe, A miracle our Life and Death;

A mystery which I cannot pierce, Around, above, beneath.

In vain I task my aching brain, In vain the sage's thought I scan, I only feel how weak and vain, How poor and blind, is man.

And now my spirit sighs for home, And longs for light whereby to see, And, like a weary child, would come, O Father, unto Thee !

Though oft, like letters traced on sand, My weak resolves have passed away, In mercy lend Thy helping hand

Unto my prayer to-day ! 1848.

ALL'S WELL.

THE clouds, which rise with thunder, slake Our thirsty souls with rain ; The blow most dreaded falls to break From off our limbs a chain ; And wrongs of man to man but make The love of God more plain. As through the shadowy lens of even The eye looks farthest into heaven On gleams of star and depths of blue The glaring sunshine never knew ! 1850.

INVOCATION

INVOCATION.

THROUGH Thy clear spaces, Lord, of old, Formless and void the dead earth rolled; Deaf to Thy heaven's sweet music, blind To the great lights which o'er it shined; No sound, no ray, no warmth, no breath, — A dumb despair, a wandering death.

To that dark, weltering horror came Thy spirit, like a subtle flame, — A breath of life electrical, Awakening and transforming all, Till beat and thrilled in every part The pulses of a living heart.

Then knew their bounds the land and sea; Then smiled the bloom of mead and tree; From flower to moth, from beast to man, The quick creative impulse ran; And earth, with life from thee renewed, Was in thy holy eyesight good.

As lost and void, as dark and cold And formless as that earth of old; A wandering waste of storm and night, Midst spheres of song and realms of light; A blot upon thy holy sky, Untouched, unwarned of thee, am I.

O Thou who movest on the deep Of spirits, wake my own from sleep!

Its darkness melt, its coldness warm, The lost restore, the ill transform, That flower and fruit henceforth may be Its grateful offering, worthy Thee.

1851.

QUESTIONS OF LIFE.

And the angel that was sent unto me, whose name was Uriel, gave me an answer and said,

"Thy heart hath gone too far in this world, and thinkest thou to comprehend the way of the Most High ?"

Then said I, "Yea, my Lord."

Then said he unto me, "Go thy way, weigh me the weight of the fire or measure me the blast of the wind, or call me again the day that is past." -2 ESDRAS, chap. iv.

A BENDING staff I would not break, A feeble faith I would not shake, Nor even rashly pluck away The error which some truth may stay, Whose loss might leave the soul without A shield against the shafts of doubt.

And yet, at times, when over all A darker mystery seems to fall, (May God forgive the child of dust, Who seeks to know, where Faith should trust!) I raise the questions, old and dark, Of Uzdom's tempted patriarch, And, speech-confounded, build again The baffled tower of Shinar's plain.

I am : how little more I know ! Whence came I? Whither do I go?

A centred self, which feels and is; A cry between the silences; A shadow-birth of clouds at strife With sunshine on the hills of life; A shaft from Nature's quiver cast Into the Future from the Past; Between the cradle and the shroud, A meteor's flight from cloud to cloud.

Thorough the vastness, arching all, I see the great stars rise and fall. The rounding seasons come and go, The tided oceans ebb and flow; The tokens of a central force, Whose circles, in their widening course, O'erlap and move the universe: The workings of the law whence springs The rhythmic harmony of things, Which shapes in earth the darkling spar, And orbs in heaven the morning star. Of all I see, in earth and sky, ---Star, flower, beast, bird, - what part have I? This conscious life. — is it the same Which thrills the universal frame. Whereby the caverned crystal shoots. And mounts the sap from forest roots, Whereby the exiled wood-bird tells When Spring makes green her native dells? How feels the stone the pang of birth, Which brings its sparkling prism forth? The forest-tree the throb which gives The life-blood to its new-born leaves?

Do bird and blossom feel, like me, Life's many-folded mystery, — The wonder which it is to be ? Or stand I severed and distinct, From Nature's chain of life unlinked ? Allied to all, yet not the less Prisoned in separate consciousness, Alone o'erburdened with a sense Of life, and cause, and consequence ?

In vain to me the Sphinx propounds The riddle of her sights and sounds; Back still the vaulted mystery gives The echoed question it receives. What sings the brook? What oracle Is in the pine-tree's organ swell? What may the wind's low burden be? The meaning of the moaning sea? The hieroglyphics of the stars? Or clouded sunset's crimson bars? I vainly ask, for mocks my skill The trick of Nature's cipher still.

I turn from Nature unto men, I ask the stylus and the pen; What sang the bards of old? What meant The prophets of the Orient? The rolls of buried Egypt, hid In painted tomb and pyramid? What mean Idúmea's arrowy lines, Or dusk Elora's monstrous signs? How speaks the primal thought of man From the grim carvings of Copan? Where rests the secret? Where the keys Of the old death-bolted mysteries? Alas! the dead retain their trust; Dust hath no answer from the dust.

The great enigma still unguessed, Unanswered the eternal quest; I gather up the scattered ravs Of wisdom in the early days, Faint gleams and broken, like the light Of meteors in a northern night, Betraving to the darkling earth The unseen sun which gave them birth; I listen to the sibyl's chant, The voice of priest and hierophant; I know what Indian Kreeshna saith. And what of life and what of death The demon taught to Socrates; And what, beneath his garden-trees Slow pacing, with a dream-like tread, The solemn-thoughted Plato said; Nor lack I tokens, great or small, Of God's clear light in each and all, While holding with more dear regard The scroll of Hebrew seer and bard. The starry pages promise-lit With Christ's Evangel over-writ, Thy miracle of life and death, O Holy One of Nazareth!

On Aztec ruins, gray and lone, The circling serpent coils in stone, — Type of the endless and unknown;

Whereof we seek the clue to find. With groping fingers of the blind ! Forever sought, and never found, We trace that serpent-symbol round Our resting-place, our starting bound ! Oh, thriftlessness of dream and guess ! Oh. wisdom which is foolishness ! Why idly seek from outward things The answer inward silence brings? Why stretch beyond our proper sphere And age, for that which lies so near? Why climb the far-off hills with pain, A nearer view of heaven to gain? In lowliest depths of bosky dells The hermit Contemplation dwells. A fountain's pine-hung slope his seat, And lotus-twined his silent feet. Whence, piercing heaven, with screenëd sight, He sees at noon the stars, whose light Shall glorify the coming night.

Here let me pause, my quest forego; Enough for me to feel and know That He in whom the cause and end, The past and future, meet and blend, — Who, girt with his Immensities, Our vast and star-hung system sees, Small as the clustered Pleiades, — Moves not alone the heavenly quires, But waves the spring-time's grassy spires, Guards not archangel feet alone, But deigns to guide and keep my own;

QUESTIONS OF LIFE

Speaks not alone the words of fate Which worlds destroy, and worlds create, But whispers in my spirit's ear, In tones of love, or warning fear, A language none beside may hear.

To Him, from wanderings long and wild, I come, an over-wearied child, In cool and shade His peace to find, Like dew-fall settling on my mind. Assured that all I know is best. And humbly trusting for the rest, I turn from Fancy's cloud-built scheme. Dark creed, and mournful eastern dream Of power, impersonal and cold, Controlling all, itself controlled, Maker and slave of iron laws. Alike the subject and the cause : From vain philosophies, that try The sevenfold gates of mystery, And, baffled ever, babble still, Word-prodigal of fate and will; From Nature, and her mockery, Art, And book and speech of men apart, To the still witness in my heart : With reverence waiting to behold His Avatár of love untold. The Eternal Beauty new and old !

1852.

vol. п. 16

FIRST-DAY THOUGHTS.

In calm and cool and silence, once again

I find my old accustomed place among

My brethren, where, perchance, no human tongue Shall utter words; where never hymn is sung,

Nor deep-toned organ blown, nor censer swung, Nor dim light falling through the pictured pane! There, syllabled by silence, let me hear The still small voice which reached the prophet's

ear;

Read in my heart a still diviner law Than Israel's leader on his tables saw ! There let me strive with each besetting sin, Recall my wandering fancies, and restrain The sore disquiet of a restless brain;

And, as the path of duty is made plain,

May grace be given that I may walk therein, Not like the hireling, for his selfish gain,

With backward glances and reluctant tread, Making a merit of his coward dread,

But, cheerful, in the light around me thrown,

Walking as one to pleasant service led;

Doing God's will as if it were my own,

Yet trusting not in mine, but in His strength alone!

1852.

TRUST.

THE same old baffling questions! O my friend, I cannot answer them. In vain I send

TRINITAS

My soul into the dark, where never burn

The lamps of science, nor the natural light Of Reason's sun and stars! I cannot learn Their great and solemn meanings, nor discern The awful secrets of the eyes which turn

Evermore on us through the day and night

With silent challenge and a dumb demand, Proffering the riddles of the dread unknown, Like the calm Sphinxes, with their eyes of stone,

Questioning the centuries from their veils of sand!

I have no answer for myself or thee,

Save that I learned beside my mother's knee;

"All is of God that is, and is to be;

And God is good." Let this suffice us still, Resting in childlike trust upon His will

Who moves to His great ends unthwarted by the ill.

1853.

TRINITAS.

AT morn I prayed, "I fain would see How Three are One, and One is Three; Read the dark riddle unto me."

I wandered forth, the sun and air I saw bestowed with equal care On good and evil, foul and fair.

No partial favor dropped the rain; Alike the righteous and profane Rejoiced above their heading grain.

And my heart murmured, "Is it meet That blindfold Nature thus should treat With equal hand the tares and wheat?"

A presence melted through my mood, — A warmth, a light, a sense of good, Like sunshine through a winter wood.

I saw that presence, mailed complete In her white innocence, pause to greet A fallen sister of the street.

Upon her bosom snowy pure The lost one clung, as if secure From inward guilt or outward lure.

"Beware!" I said ; " in this I see No gain to her, but loss to thee : Who touches pitch defiled must be."

I passed the haunts of shame and sin, And a voice whispered, "Who therein Shall these lost souls to Heaven's peace win?

"Who there shall hope and health dispense, And lift the ladder up from thence Whose rounds are prayers of penitence?"

I said, "No higher life they know; These earth-worms love to have it so. Who stoops to raise them sinks as low."

TRINITAS

That night with painful care I read What Hippo's saint and Calvin said; The living seeking to the dead!

In vain I turned, in weary quest, Old pages, where (God give them rest!) The poor creed-mongers dreamed and guessed.

And still I prayed, "Lord, let me see How Three are One, and One is Three; Read the dark riddle unto me!"

Then something whispered, "Dost thou pray For what thou hast? This very day The Holy Three have crossed thy way.

- "Did not the gifts of sun and air To good and ill alike declare The all-compassionate Father's care?
- "In the white soul that stooped to raise The lost one from her evil ways, Thou saw'st the Christ, whom angels praise !
- "A bodiless Divinity, The still small Voice that spake to thee Was the Holy Spirit's mystery!
- "O blind of sight, of faith how small ! Father, and Son, and Holy Call; This day thou hast denied them all !

"Revealed in love and sacrifice, The Holiest passed before thine eyes, One and the same, in threefold guise.

"The equal Father in rain and sun, His Christ in the good to evil done, His Voice in thy soul; — and the Three are One!"

I shut my grave Aquinas fast; The monkish gloss of ages past, The schoolman's creed aside I cast.

And my heart answered, "Lord, I see How Three are One, and One is Three; Thy riddle hath been read to me!" 1858.

THE SISTERS.

A PICTURE BY BARRY.

THE shade for me, but over thee The lingering sunshine still; As, smiling, to the silent stream Comes down the singing rill.

So come to me, my little one, — My years with thee I share, And mingle with a sister's love A mother's tender care. But keep the smile upon thy lip, The trust upon thy brow; Since for the dear one God hath called We have an angel now.

Our mother from the fields of heaven Shall still her ear incline; Nor need we fear her human love Is less for love divine.

The songs are sweet they sing beneath The trees of life so fair, But sweetest of the songs of heaven

Shall be her children's prayer.

Then, darling, rest upon my breast, And teach my heart to lean With thy sweet trust upon the arm Which folds us both unseen ! 1853.

"THE ROCK" IN EL GHOR.

DEAD Petra in her hill-tomb sleeps, Her stones of emptiness remain; Around her sculptured mystery sweeps The lonely waste of Edom's plain.

From the doomed dwellers in the cleft The bow of vengeance turns not back; Of all her myriads none are left Along the Wady Mousa's track.

248

Clear in the hot Arabian day Her arches spring, her statues climb; Unchanged, the graven wonders pay No tribute to the spoiler, Time!

Unchanged the awful lithograph Of power and glory undertrod; Of nations scattered like the chaff Blown from the threshing-floor of God.

Yet shall the thoughtful stranger turn From Petra's gates with deeper awe, To mark afar the burial urn Of Aaron on the cliffs of Hor;

And where upon its ancient guard Thy Rock, El Ghor, is standing yet, — Looks from its turrets desertward, And keeps the watch that God has set.

The same as when in thunders loud It heard the voice of God to man, As when it saw in fire and cloud The angels walk in Israel's van!

Or when from Ezion-Geber's way It saw the long procession file, And heard the Hebrew timbrels play The music of the lordly Nile;

Or saw the tabernacle pause, Cloud-bound, by Kadesh Barnea's wells, While Moses graved the sacred laws, And Aaron swung his golden bells. Rock of the desert, prophet.sung ! How grew its shadowing pile at length, A symbol, in the Hebrew tongue, Of God's eternal love and strength.

On lip of bard and scroll of seer, From age to age went down the name, Until the Shiloh's promised year, And Christ, the Rock of Ages, came !

The path of life we walk to-day Is strange as that the Hebrews trod; We need the shadowing rock, as they,— We need, like them, the guides of God.

God send His angels, Cloud and Fire, To lead us o'er the desert sand! God give our hearts their long desire,

His shadow in a weary land! 1859.

THE OVER-HEART.

"For of Him, and through Him, and to Him are all things, to whom be glory forever!" - PAUL.

ABOVE, below, in sky and sod, In leaf and spar, in star and man, Well might the wise Athenian scan The geometric signs of God, The measured order of His plan.

And India's mystics sang aright Of the One Life pervading all,—

One Being's tidal rise and fall In soul and form, in sound and sight, — Eternal outflow and recall.

God is : and man in guilt and fear The central fact of Nature owns ; Kneels, trembling, by his altar-stones, And darkly dreams the ghastly smear Of blood appeases and atones.

Guilt shapes the Terror: deep within The human heart the secret lies Of all the hideous deities ;

And, painted on a ground of sin, The fabled gods of torment rise !

And what is He? The ripe grain nods, The sweet dews fall, the sweet flowers blow; But darker signs His presence show:

The earthquake and the storm are God's, And good and evil interflow.

O hearts of love! O souls that turn Like sunflowers to the pure and best! To you the truth is manifest: For they the mind of Christ discern Who lean like John upon His breast!

In him of whom the sibyl told, For whom the prophet's harp was toned, Whose need the sage and magian owned, The loving heart of God behold,

The hope for which the ages groaned !

THE OVER-HEART

Fade, pomp of dreadful imagery Wherewith mankind have deified Their hate, and selfishness, and pride ! Let the scared dreamer wake to see The Christ of Nazareth at his side !

What doth that holy Guide require? No rite of pain, nor gift of blood, But man a kindly brotherhood, Looking, where duty is desire,

To Him, the beautiful and good.

Gone be the faithlessness of fear, And let the pitying heaven's sweet rain Wash out the altar's bloody stain; The law of Hatred disappear, The law of Love alone remain.

How fall the idols false and grim ! And lo ! their hideous wreck above The emblems of the Lamb and Dove ! Man turns from God, not God from him; And guilt, in suffering, whispers Love !

The world sits at the feet of Christ, Unknowing, blind, and unconsoled; It yet shall touch His garment's fold, And feel the heavenly Alchemist Transform its very dust to gold.

The theme befitting angel tongues Beyond a mortal's scope has grown.

O heart of mine! with reverence own The fulness which to it belongs,

And trust the unknown for the known.

1859.

THE SHADOW AND THE LIGHT.

"And I sought, whence is Evil: I set before the eve of my spirit the whole creation ; whatsoever we see therein, - sea, earth, air, stars, trees, moral creatures, - yea, whatsoever there is we do not see, - angels and spiritual powers. Where is evil, and whence comes it, since God the Good hath created all things ? Why made He anything at all of evil, and not rather by His Almightiness cause it not to be? These thoughts I turned in my miserable heart, overcharged with most gnawing cares." "And, admonished to return to myself, I entered even into my inmost soul, Thou being my guide, and beheld even beyond my soul and mind the Light unchangeable. He who knows the Truth knows what that Light is, and he that knows it knows Eternity! O Truth, who art Eternity! Love, who art Truth! Eternity, who art Love! And I beheld that Thou madest all things good, and to Thee is nothing whatsoever evil. From the angel to the worm. from the first motion to the last, Thou settest each in its place, and everything is good in its kind. Woe is me ! - how high art Thon in the highest, how deep in the deepest ! and Thou never departest from us and we scarcely return to Thee." - Augus-TINE'S Soliloquies, Book VII.

THE fourteen centuries fall away Between us and the Afric saint, And at his side we urge, to-day, The immemorial quest and old complaint.

No outward sign to us is given, -

From sea or earth comes no reply; Hushed as the warm Numidian heaven He vainly questioned bends our frozen sky.

No victory comes of all our strife, — From all we grasp the meaning slips; The Sphinx sits at the gate of life, With the old question on her awful lips.

In paths unknown we hear the feet Of fear before, and guilt behind; We pluck the wayside fruit, and eat Ashes and dust beneath its golden rind.

From age to age descends unchecked The sad bequest of sire to son, The body's taint, the mind's defect; Through every web of life the dark threads run.

Oh, why and whither? God knows all; I only know that He is good, And that whatever may befall Or here or there, must be the best that could.

Between the dreadful cherubim A Father's face I still discern, As Moses looked of old on Him, And saw His glory into goodness turn !

For He is merciful as just; And so, by faith correcting sight, I bow before His will, and trust Howe'er they seem He doeth all things right.

And dare to hope that He will make The rugged smooth, the doubtful plain; His mercy never quite forsake; His healing visit every realm of pain;

254

That suffering is not His revenge Upon His creatures weak and frail, Sent on a pathway new and strange With feet that wander and with eyes that fail;

That, o'er the crucible of pain,

Watches the tender eye of Love The slow transmuting of the chain Whose links are iron below to gold above!

Ah me! we doubt the shining skies, Seen through our shadows of offence, And drown with our poor childish cries The cradle-hymn of kindly Providence.

And still we love the evil cause, And of the just effect complain : We tread upon life's broken laws, And murmur at our self-inflicted pain;

We turn us from the light, and find Our spectral shapes before us thrown, As they who leave the sun behind Walk in the shadows of themselves alone.

And scarce by will or strength of ours We set our faces to the day; Weak, wavering, blind, the Eternal Powers Alone can turn us from ourselves away.

Our weakness is the strength of sin, But love must needs be stronger far, Outreaching all and gathering in The erring spirit and the wandering star. A Voice grows with the growing years ; Earth, hushing down her bitter cry, Looks upward from her graves, and hears, "The Resurrection and the Life am I."

O Love Divine ! — whose constant beam Shines on the eyes that will not see, And waits to bless us, while we dream Thou leavest us because we turn from thee !

All souls that struggle and aspire, All hearts of prayer by thee are lit; And, dim or clear, thy tongues of fire On dusky tribes and twilight centuries sit.

Nor bounds, nor clime, nor creed thou know'st, Wide as our need thy favors fall; The white wings of the Holy Ghost Stoop, seen or unseen, o'er the heads of all.

O Beauty, old yet ever new ! ⁶ Eternal Voice, and Inward Word, The Logos of the Greek and Jew, The old sphere-music which the Samian heard !

Truth which the sage and prophet saw, Long sought without, but found within, The Law of Love beyond all law, The Life o'erflooding mortal death and sin!

Shine on us with the light which glowed Upon the trance-bound shepherd's way, Who saw the Darkness overflowed And drowned by tides of everlasting Day.⁷

Shine, light of God ! — make broad thy scope To all who sin and suffer : more

And better than we dare to hope

With Heaven's compassion make our longings poor! 1860.

THE CRY OF A LOST SOUL.

Lieutenant Herndon's Report of the Exploration of the Amazon has a striking description of the peculiar and melancholy notes of a bird heard by night on the shores of the river. The Indian guides called it "The Cry of a Lost Soul"! Among the numerous translations of this poem is one by the Emperor of Brazil.⁸

In that black forest, where, when day is done, With a snake's stillness glides the Amazon Darkly from sunset to the rising sun,

A cry, as of the pained heart of the wood, The long, despairing moan of solitude And darkness and the absence of all good,

Startles the traveller, with a sound so drear, So full of hopeless agony and fear, His heart stands still and listens like his ear.

The guide, as if he heard a dead-bell toll, Starts, drops his oar against the gunwale's thole, Crosses himself, and whispers, "A lost soul!"

"No, Señor, not a bird. I know it well, — It is the pained soul of some infidel Or cursëd heretic that cries from hell.

"Poor fool! with hope still mocking his despair, He wanders, shrieking on the midnight air For human pity and for Christian prayer.

"Saints strike him dumb! Our Holy Mother hath

No prayer for him who, sinning unto death, Burns always in the furnace of God's wrath!"

Thus to the baptized pagan's cruel lie, Lending new horror to that mournful cry, The voyager listens, making no reply.

Dim burns the boat-lamp: shadows deepen round, From giant trees with snake-like creepers wound, And the black water glides without a sound.

But in the traveller's heart a secret sense Of nature plastic to benign intents, And an eternal good in Providence,

Lifts to the starry calm of heaven his eyes; And lo! rebuking all earth's ominous cries, The Cross of pardon lights the tropic skies!

"Father of all!" he urges his strong plea, "Thou lovest all: Thy erring child may be Lost to himself, but never lost to Thee!

"All souls are Thine; the wings of morning bear None from that Presence which is everywhere, Nor hell itself can hide, for Thou art there.

- "Through sins of sense, perversities of will, Through doubt and pain, through guilt and shame and ill, Thy pitying eye is on Thy creature still.
- "Wilt thou not make, Eternal Source and Goal! In Thy long years, life's broken circle whole, And change to praise the cry of a lost soul?" 1862.

ANDREW RYKMAN'S PRAYER.

ANDREW RYKMAN's dead and gone; You can see his leaning slate In the graveyard, and thereon Read his name and date.

" Trust is truer than our fears," Runs the legend through the moss,

" Gain is not in added years, Nor in death is loss."

Still the feet that thither trod, All the friendly eyes are dim; Only Nature, now, and God Have a care for him.

There the dews of quiet fall, Singing birds and soft winds stray: Shall the tender Heart of all Be less kind than they? What he was and what he is They who ask may haply find, If they read this prayer of his Which he left behind.

Pardon, Lord, the lips that dare Shape in words a mortal's prayer! Prayer, that, when my day is done, And I see its setting sun, Shorn and beamless, cold and dim, Sink beneath the horizon's rim, — When this ball of rock and clay Crumbles from my feet away, And the solid shores of sense Melt into the vague immense, Father ! I may come to Thee Even with the beggar's plea, As the poorest of Thy poor, With my needs, and nothing more.

Not as one who seeks his home With a step assured I come; Still behind the tread I hear Of my life-companion, Fear; Still a shadow deep and vast From my westering feet is cast, Wavering, doubtful, undefined, Never shapen nor outlined: From myself the fear has grown, And the shadow is my own. Yet, O Lord, through all a sense Of Thy tender providence Stays my failing heart on Thee, And confirms the feeble knee: And, at times, my worn feet press Spaces of cool quietness, Lilied whiteness shone upon Not by light of moon or sun. Hours there be of inmost calm, Broken but by grateful psalm, When I love Thee more than fear Thee. And Thy blessed Christ seems near me. With forgiving look, as when He beheld the Magdalen. Well I know that all things move To the spheral rhythm of love, ---That to Thee, O Lord of all! Nothing can of chance befall: Child and seraph, mote and star, Well Thou knowest what we are ! Through Thy vast creative plan Looking, from the worm to man, There is pity in Thine eyes, But no hatred nor surprise. Not in blind caprice of will, Not in cunning sleight of skill, Not for show of power, was wrought Nature's marvel in Thy thought. Never careless hand and vain Smites these chords of joy and pain; No immortal selfishness Plays the game of curse and bless: Heaven and earth are witnesses That Thy glory goodness is.

Not for sport of mind and force Hast Thou made Thy universe, But as atmosphere and zone Of Thy loving heart alone. Man, who walketh in a show, Sees before him. to and fro. Shadow and illusion go; All things flow and fluctuate. Now contract and now dilate. In the welter of this sea. Nothing stable is but Thee: In this whirl of swooning trance, Thou alone art permanence; All without Thee only seems, All beside is choice of dreams. Never yet in darkest mood Doubted I that Thou wast good, Nor mistook my will for fate, Pain of sin for heavenly hate, ---Never dreamed the gates of pearl Rise from out the burning marl, Or that good can only live Of the bad conservative, And through counterpoise of hell Heaven alone be possible.

For myself alone I doubt; All is well, I know, without; I alone the beauty mar, I alone the music jar. Yet, with hands by evil stained, And an ear by discord pained, I am groping for the keys Of the heavenly harmonies;

Still within my heart I bear Love for all things good and fair. Hands of want or souls in pain Have not sought my door in vain : I have kept my fealty good To the human brotherhood: Scarcely have I asked in prayer That which others might not share. I, who hear with secret shame Praise that paineth more than blame. Rich alone in favors lent. Virtuous by accident. Doubtful where I fain would rest. Frailest where I seem the best, Only strong for lack of test. ---What am I, that I should press Special pleas of selfishness, Coolly mounting into heaven On my neighbor unforgiven? Ne'er to me, howe'er disguised. Comes a saint unrecognized; Never fails my heart to greet Noble deed with warmer beat: Halt and maimed. I own not less All the grace of holiness; Nor, through shame or self-distrust, Less I love the pure and just. Lord, forgive these words of mine : What have I that is not Thine? Whatsoe'er I fain would boast Needs Thy pitying pardon most. Thou, O Elder Brother! who In Thy flesh our trial knew,

Thou, who hast been touched by these Our most sad infirmities. Thou alone the gulf canst span In the dual heart of man. And between the soul and sense Reconcile all difference. Change the dream of me and mine For the truth of Thee and Thine. And, through chaos, doubt, and strife, Interfuse Thy calm of life. Haply, thus by Thee renewed, In Thy borrowed goodness good, Some sweet morning yet in God's Dim, æonian periods, Joyful I shall wake to see Those I love who rest in Thee, And to them in Thee allied Shall my soul be satisfied.

Scarcely Hope hath shaped for me What the future life may be. Other lips may well be bold; Like the publican of old, I can only urge the plea, "Lord, be merciful to me !" Nothing of desert I claim, Unto me belongeth shame. Not for me the crowns of gold, Palms, and harpings manifold; Not for erring eye and feet Jasper wall and golden street. What thou wilt, O Father, give ! All is gain that I receive.

If my voice I may not raise In the elders' song of praise, If I may not, sin-defiled. Claim my birthright as a child, Suffer it that I to Thee As an hired servant be: Let the lowliest task be mine, Grateful, so the work be Thine : Let me find the humblest place In the shadow of Thy grace: Blest to me were any spot Where temptation whispers not. If there be some weaker one. Give me strength to help him on ; If a blinder soul there be, Let me guide him nearer Thee. Make my mortal dreams come true With the work I fain would do: Clothe with life the weak intent, Let me be the thing I meant: Let me find in Thy employ Peace that dearer is than joy : Out of self to love be led And to heaven acclimated. Until all things sweet and good Seem my natural habitude.

So we read the prayer of him Who, with John of Labadie, Trod, of old, the oozy rim Of the Zuyder Zee.

THE ANSWER

Thus did Andrew Rykman pray. Are we wiser, better grown, That we may not, in our day, Make his prayer our own?

1863.

THE ANSWER.

SPARE me, dread angel of reproof, And let the sunshine weave to-day Its gold-threads in the warp and woof Of life so poor and gray.

Spare me awhile; the flesh is weak. These lingering feet, that fain would stray Among the flowers, shall some day seek The strait and narrow way.

Take off thy ever-watchful eye, The awe of thy rebuking frown; The dullest slave at times must sigh To fling his burdens down;

To drop his galley's straining oar, And press, in summer warmth and calm, The lap of some enchanted shore Of blossom and of balm.

Grudge not my life its hour of bloom, My heart its taste of long desire; This day be mine: be those to come As duty shall require.

The deep voice answered to my own, Smiting my selfish prayers away; "To-morrow is with God alone, And man hath but to-day.

"Say not, thy fond, vain heart within, The Father's arm shall still be wide, When from these pleasant ways of sin Thou turn'st at eventide.

" 'Cast thyself down,' the tempter saith, 'And angels shall thy feet upbear.' He bids thee make a lie of faith, And blasphemy of prayer.

"Though God be good and free be heaven, No force divine can love compel; And, though the song of sins forgiven May sound through lowest hell,

"The sweet persuasion of His voice Respects thy sanctity of will. He giveth day: thou hast thy choice To walk in darkness still;

"As one who, turning from the light, Watches his own gray shadow fall, Doubting, upon his path of night, If there be day at all !

"No word of doom may shut thee out, No wind of wrath may downward whirl, No swords of fire keep watch about The open gates of pearl; "A tenderer light than moon or sun, Than song of earth a sweeter hymn, May shine and sound forever on, And thou be deaf and dim.

"Forever round the Mercy-seat The guiding lights of Love shall burn; But what if, habit-bound, thy feet Shall lack the will to turn?

"What if thine eye refuse to see, Thine ear of Heaven's free welcome fail, And thou a willing captive be, Thyself thy own dark jail?

" Oh, doom beyond the saddest guess, As the long years of God unroll, To make thy dreary selfishness The prison of a soul!

"To doubt the love that fain would break The fetters from thy self-bound limb; And dream that God can thee forsake As thou forsakest Him!" 1863.

THE ETERNAL GOODNESS.

O FRIENDS ! with whom my feet have trod The quiet aisles of prayer, Glad witness to your zeal for God And love of man I bear. I trace your lines of argument; Your logic linked and strong

I weigh as one who dreads dissent, And fears a doubt as wrong.

But still my human hands are weak To hold your iron creeds : Against the words ye bid me speak My heart within me pleads.

Who fathoms the Eternal Thought? Who talks of scheme and plan? The Lord is God! He needeth not The poor device of man.

I walk with bare, hushed feet the ground Ye tread with boldness shod;

I dare not fix with mete and bound The love and power of God.

Ye praise His justice ; even such His pitying love I deem :

Ye seek a king; I fain would touch The robe that hath no seam.

Ye see the curse which overbroods A world of pain and loss;

I hear our Lord's beatitudes And prayer upon the cross.

More than your schoolmen teach, within Myself, alas! I know:

Too dark ye cannot paint the sin, Too small the merit show. I bow my forehead to the dust, I veil mine eyes for shame, And urge, in trembling self-distrust, A prayer without a claim.

- I see the wrong that round me lies, I feel the guilt within ;
- I hear, with groan and travail-cries, The world confess its sin.

Yet, in the maddening maze of things, And tossed by storm and flood,

To one fixed trust my spirit clings; I know that God is good !

Not mine to look where cherubim And seraphs may not see,

But nothing can be good in Him Which evil is in me.

The wrong that pains my soul below I dare not throne above,

I know not of His hate, - I know His goodness and His love.

I dimly guess from blessings known Of greater out of sight,

And, with the chastened Psalmist, own His judgments too are right.

I long for household voices gone, For vanished smiles I long, But God hath led my dear ones on,

And He can do no wrong.

I know not what the future hath Of marvel or surprise, Assured alone that life and death His mercy underlies.

And if my heart and flesh are weak To bear an untried pain,

The bruised reed He will not break, But strengthen and sustain.

No offering of my own I have, Nor works my faith to prove; I can but give the gifts He gave, And plead His love for love.

And so beside the Silent Sea I wait the muffled oar; No harm from Him can come to me On ocean or on shore.

I know not where His islands lift Their fronded palms in air; I only know I cannot drift

Beyond His love and care.

O brothers ! if my faith is vain, If hopes like these betray, Pray for me that my feet may gain The sure and safer way.

And Thou, O Lord ! by whom are seen Thy creatures as they be, THE COMMON QUESTION

Forgive me if too close I lean My human heart on Thee!

1865.

THE COMMON QUESTION.

BEHIND us at our evening meal The gray bird ate his fill, Swung downward by a single claw, And wiped his hookëd bill.

He shook his wings and crimson tail, And set his head aslant, And, in his sharp, impatient way, Asked, "What does Charlie want?"

"Fie, silly bird !" I answered, "tuck Your head beneath your wing, And go to sleep;" — but o'er and o'er He asked the self-same thing.

Then, smiling, to myself I said: How like are men and birds! We all are saying what he says, In action or in words.

The boy with whip and top and drum, The girl with hoop and doll, And men with lands and houses, ask The question of Poor Poll.

However full, with something more We fain the bag would cram;

We sigh above our crowded nets For fish that never swam.

No bounty of indulgent Heaven The vague desire can stay; Self-love is still a Tartar mill For grinding prayers alway.

The dear God hears and pities all ; He knoweth all our wants ; And what we blindly ask of Him His love withholds or grants.

And so I sometimes think our prayers Might well be merged in one ; And nest and perch and hearth and church Repeat, "Thy will be done."

OUR MASTER.

IMMORTAL Love, forever full, Forever flowing free, Forever shared, forever whole, A never-ebbing sea!

Our outward lips confess the name All other names above; Love only knoweth whence it came And comprehendeth love.

Blow, winds of God, awake and blow The mists of earth away!

OUR MASTER

Shine out, O Light Divine, and show How wide and far we stray!

Hush every lip, close every book, The strife of tongues forbear; Why forward reach, or backward look, For love that clasps like air?

We may not climb the heavenly steeps To bring the Lord Christ down :

In vain we search the lowest deeps, For Him no depths can drown.

Nor holy bread, nor blood of grape, The lineaments restore

Of Him we know in outward shape And in the flesh no more.

He cometh not a king to reign; The world's long hope is dim; The weary centuries watch in vain The clouds of heaven for Him.

Death comes, life goes; the asking eye And ear are answerless; The grave is dumb, the hollow sky Is sad with silentness.

The letter fails, and systems fall, And every symbol wanes; The Spirit over-brooding all Eternal Love remains.

And not for signs in heaven above Or earth below they look, Who know with John His smile of love, With Peter His rebuke.

In joy of inward peace, or sense Of sorrow over sin, He is His own best evidence, His witness is within.

No fable old, nor mythic lore, Nor dream of bards and seers, No dead fact stranded on the shore Of the oblivious years ; —

But warm, sweet, tender, even yet A present help is He; And faith has still its Olivet, And love its Galilee.

The healing of His seamless dress Is by our beds of pain; We touch Him in life's throng and press, And we are whole again.

Through Him the first fond prayers are said Our lips of childhood frame, The last low whispers of our dead Are burdened with His name.

Our Lord and Master of us all! Whate'er our name or sign, We own Thy sway, we hear Thy call, We test our lives by Thine.

 $\mathbf{274}$

OUR MASTER

Thou judgest us; Thy purity Doth all our lusts condemn; The love that draws us nearer Thee Is hot with wrath to them.

Our thoughts lie open to Thy sight; And, naked to Thy glance, Our secret sins are in the light Of Thy pure countenance.

Thy healing pains, a keen distress Thy tender light shines in ; Thy sweetness is the bitterness, Thy grace the pang of sin.

Yet, weak and blinded though we be, Thou dost our service own; We bring our varying gifts to Thee, And Thou rejectest none.

To Thee our full humanity, Its joys and pains, belong; The wrong of man to man on Thee Inflicts a deeper wrong.

Who hates, hates Thee, who loves becomes Therein to Thee allied;

All sweet accords of hearts and homes In Thee are multiplied.

Deep strike Thy roots, O heavenly Vine, Within our earthly sod, Most human and yet most divine, The flower of man and God ! O Love! O Life! Our faith and sight Thy presence maketh one
As through transfigured clouds of white We trace the noon-day sun.
So, to our mortal eyes subdued, Flesh-veiled, but not concealed,
We know in Thee the fatherhood And heart of God revealed.
We faintly hear, we dimly see, In differing phrase we pray;
But, dim or clear, we own in Thee The Light, the Truth, the Way !

The homage that we render Thee Is still our Father's own; No jealous claim or rivalry Divides the Cross and Throne.

To do Thy will is more than praise, As words are less than deeds, And simple trust can find Thy ways We miss with chart of creeds.

No pride of self Thy service hath, No place for me and mine; Our human strength is weakness, death Our life, apart from Thine.

Apart from Thee all gain is loss, All labor vainly done; The solemn shadow of Thy Cross Is better than the sun.

Alone, O Love ineffable ! Thy saving name is given ; To turn aside from Thee is hell, To walk with Thee is heaven !

How vain, secure in all Thou art, Our noisy championship! The sighing of the contrite heart Is more than flattering lip.

Not Thine the bigot's partial plea, Nor Thine the zealot's ban; Thou well canst spare a love of Thee Which ends in hate of man.

Our Friend, our Brother, and our Lord, What may Thy service be?— Nor name, nor form, nor ritual word,

But simply following Thee.

We bring no ghastly holocaust, We pile no graven stone; He serves thee best who loveth most His brothers and Thy own.

Thy litanies, sweet offices Of love and gratitude; Thy sacramental liturgies, The joy of doing good.

In vain shall waves of incense drift The vaulted nave around, In vain the minster turret lift Its brazen weights of sound.

The heart must ring Thy Christmas bells, Thy inward altars raise ; Its faith and hope Thy canticles, And its obedience praise!

1866.

THE MEETING.

The two speakers in the meeting referred to in this poem were Avis Keene, whose very presence was a benediction, a woman lovely in spirit and person, whose words seemed a message of love and tender concern to her hearers; and Sibyl Jones, whose inspired eloquence and rare spirituality impressed all who knew her. In obedience to her apprehended duty she made visits of Christian love to various parts of Europe, and to the West Coast of Africa and Palestine.

THE elder folks shook hands at last. Down seat by seat the signal passed. To simple ways like ours unused. Half solemnized and half amused. With long-drawn breath and shrug, my guest His sense of glad relief expressed. Outside, the hills lay warm in sun; The cattle in the meadow-run Stood half-leg deep; a single bird The green repose above us stirred. "What part or lot have you," he said, "In these dull rites of drowsy-head? Is silence worship? Seek it where It soothes with dreams the summer air. Not in this close and rude-benched hall, But where soft lights and shadows fall, And all the slow, sleep-walking hours Glide soundless over grass and flowers!

THE MEETING

From time and place and form apart. Its holv ground the human heart. Nor ritual-bound nor templeward Walks the free spirit of the Lord ! Our common Master did not pen His followers up from other men; His service liberty indeed, He built no church. He framed no creed : But while the saintly Pharisee Made broader his phylactery, As from the synagogue was seen The dusty-sandalled Nazarene Through ripening cornfields lead the way Upon the awful Sabbath day, His sermons were the healthful talk That shorter made the mountain-walk, His wayside texts were flowers and birds, Where mingled with His gracious words The rustle of the tamarisk-tree And ripple-wash of Galilee."

"Thy words are well, O friend," I said; "Unmeasured and unlimited, With noiseless slide of stone to stone, The mystic Church of God has grown. Invisible and silent stands The temple never made with hands, Unheard the voices still and small Of its unseen confessional. He needs no special place of prayer Whose hearing ear is everywhere; He brings not back the childish days That ringed the earth with stones of praise,

Roofed Karnak's hall of gods, and laid The plinths of Philæ's colonnade. Still less He owns the selfish good And sickly growth of solitude, — The worthless grace that, out of sight, Flowers in the desert anchorite; Dissevered from the suffering whole, Love hath no power to save a soul. Not out of Self, the origin And native air and soil of sin, The living waters spring and flow, The trees with leaves of healing grow.

"Dream not, O friend, because I seek This quiet shelter twice a week, I better deem its pine-laid floor Than breezy hill or sea-sung shore; But nature is not solitude: She crowds us with her thronging wood; Her many hands reach out to us, Her many tongues are garrulous; Perpetual riddles of surprise She offers to our ears and eyes; She will not leave our senses still, But drags them captive at her will : And, making earth too great for heaven, She hides the Giver in the given.

"And so, I find it well to come For deeper rest to this still room, For here the habit of the soul Feels less the outer world's control; The strength of mutual purpose pleads

THE MEETING

More earnestly our common needs ; And from the silence multiplied By these still forms on either side, The world that time and sense have known Falls off and leaves us God alone.

"Yet rarely through the charmed repose Unmixed the stream of motive flows. A flavor of its many springs, The tints of earth and sky it brings; In the still waters needs must be Some shade of human sympathy; And here, in its accustomed place, I look on memory's dearest face; The blind by-sitter guesseth not What shadow haunts that vacant spot; No eves save mine alone can see The love wherewith it welcomes me! And still, with those alone my kin, In doubt and weakness, want and sin, I bow my head, my heart I bare As when that face was living there, And strive (too oft, alas! in vain) The peace of simple trust to gain, Fold fancy's restless wings, and lay The idols of my heart away.

"Welcome the silence all unbroken, Nor less the words of fitness spoken, — Such golden words as hers for whom Our autumn flowers have just made room; Whose hopeful utterance through and through The freshness of the morning blew;

Who loved not less the earth that light Fell on it from the heavens in sight. But saw in all fair forms more fair The Eternal beauty mirrored there. Whose eighty years but added grace And saintlier meaning to her face. -The look of one who bore away Glad tidings from the hills of day. While all our hearts went forth to meet The coming of her beautiful feet! Or haply hers, whose pilgrim tread Is in the paths where Jesus led ; Who dreams her childhood's sabbath dream By Jordan's willow-shaded stream, And, of the hymns of hope and faith, Sung by the monks of Nazareth, Hears pious echoes, in the call To prayer, from Moslem minarets fall, Repeating where His works were wrought The lesson that her Master taught, Of whom an elder Sibyl gave, The prophecies of Cumæ's cave !

" I ask no organ's soulless breath To drone the themes of life and death, No altar candle-lit by day, No ornate wordsman's rhetoric-play, No cool philosophy to teach Its bland audacities of speech To double-tasked idolaters Themselves their gods and worshippers, No pulpit hammered by the fist Of loud-asserting dogmatist,

THE MEETING

Who borrows for the Hand of love The smoking thunderbolts of Jove. I know how well the fathers taught, What work the later schoolmen wrought; I reverence old-time faith and men. But God is near us now as then : His force of love is still unspent. His hate of sin as imminent : And still the measure of our needs Outgrows the cramping bounds of creeds; The manna gathered yesterday Already savors of decay; Doubts to the world's child-heart unknown Question us now from star and stone; Too little or too much we know, And sight is swift and faith is slow ; The power is lost to self-deceive With shallow forms of make-believe, We walk at high noon, and the bells Call to a thousand oracles, But the sound deafens, and the light Is stronger than our dazzled sight; The letters of the sacred Book Glimmer and swim beneath our look : Still struggles in the Age's breast With deepening agony of quest The old entreaty: 'Art thou He, Or look we for the Christ to be?'

"God should be most where man is least: So, where is neither church nor priest, And never rag of form or creed To clothe the nakedness of need, —

Where farmer-folk in silence meet. -I turn my bell-unsummoned feet; I lay the critic's glass aside. I tread upon my lettered pride, And, lowest-seated, testify To the oneness of humanity: Confess the universal want. And share whatever Heaven may grant. He findeth not who seeks his own. The soul is lost that's saved alone. Not on one favored forehead fell Of old the fire-tongued miracle, But flamed o'er all the thronging host The baptism of the Holy Ghost; Heart answers heart : in one desire The blending lines of prayer aspire ; 'Where, in my name, meet two or three,'

Our Lord hath said, 'I there will be !'

"So sometimes comes to soul and sense The feeling which is evidence That very near about us lies The realm of spiritual mysteries. The sphere of the supernal powers Impinges on this world of ours. The low and dark horizon lifts, To light the scenic terror shifts; The breath of a diviner air Blows down the answer of a prayer: That all our sorrow, pain, and doubt A great compassion clasps about, And law and goodness, love and force, Are wedded fast beyond divorce.

THE MEETING

Then duty leaves to love its task, The beggar Self forgets to ask; With smile of trust and folded hands, The passive soul in waiting stands To feel, as flowers the sun and dew, The One true Life its own renew.

"So, to the calmly gathered thought The innermost of truth is taught, The mystery dimly understood, That love of God is love of good. And, chiefly, its divinest trace In Him of Nazareth's holv face: That to be saved is only this, ---Salvation from our selfishness. From more than elemental fire. The soul's unsanctified desire, From sin itself, and not the pain That warns us of its chafing chain ; That worship's deeper meaning lies In mercy, and not sacrifice, Not proud humilities of sense And posturing of penitence, But love's unforced obedience ; That Book and Church and Day are given For man, not God, - for earth, not heaven, -The blessed means to holiest ends. Not masters, but benignant friends; That the dear Christ dwells not afar. The king of some remoter star, Listening, at times, with flattered ear To homage wrung from selfish fear, But here, amidst the poor and blind, The bound and suffering of our kind,

In works we do, in prayers we pray, Life of our life, He lives to-day."

THE CLEAR VISION.

I DID but dream. I never knew

What charms our sternest season wore. Was never yet the sky so blue,

Was never earth so white before. Till now I never saw the glow Of sunset on yon hills of snow, And never learned the bough's designs Of beauty in its leafless lines.

Did ever such a morning break

As that my eastern windows see? Did ever such a moonlight take

Weird photographs of shrub and tree ? Rang ever bells so wild and fleet The music of the winter street? Was ever yet a sound by half So merry as yon school-boy's laugh?

O Earth ! with gladness overfraught,

No added charm thy face hath found; Within my heart the change is wrought,

My footsteps make enchanted ground. From couch of pain and curtained room Forth to thy light and air I come, To find in all that meets my eyes The freshness of a glad surprise.

Fair seem these winter days, and soon Shall blow the warm west-winds of spring, To set the unbound rills in tune

And hither urge the bluebird's wing. The vales shall laugh in flowers, the woods Grow misty green with leafing buds, And violets and wind-flowers sway Against the throbbing heart of May.

Break forth, my lips, in praise, and own The wiser love severely kind; Since, richer for its chastening grown, I see, whereas I once was blind. The world, O Father ! hath not wronged With loss the life by Thee prolonged; But still, with every added year, More beautiful Thy works appear !

As Thou hast made thy world without, Make Thou more fair my world within; Shine through its lingering clouds of doubt; Rebuke its haunting shapes of sin; Fill, brief or long, my granted span Of life with love to thee and man; Strike when thou wilt the hour of rest, But let my last days be my best !

2d mo., 1868.

DIVINE COMPASSION.

Long since, a dream of heaven I had, And still the vision haunts me oft;

I see the saints in white robes clad, The martyrs with their palms aloft ; But hearing still, in middle song, The ceaseless dissonance of wrong ; And shrinking, with hid faces, from the strain Of sad, beseeching eyes, full of remorse and pain. The glad song falters to a wail, The harping sinks to low lament; Before the still unlifted veil I see the crowned foreheads bent. Making more sweet the heavenly air, With breathings of unselfish prayer; And a Voice saith : "O Pity which is pain, O Love that weeps, fill up my sufferings which remain ! "Shall souls redeemed by me refuse To share my sorrow in their turn? Or, sin-forgiven, my gift abuse Of peace with selfish unconcern? Has saintly ease no pitying care? Has faith no work, and love no prayer? While sin remains, and souls in darkness dwell, Can heaven itself be heaven, and look unmoved on hell?" Then through the Gates of Pain, I dream, A wind of heaven blows coolly in; Fainter the awful discords seem. The smoke of torment grows more thin,

Tears quench the burning soil, and thence Spring sweet, pale flowers of penitence :

And through the dreary realm of man's despair, Star-crowned an angel walks, and lo ! God's hope is there !

Is it a dream? Is heaven so high That pity cannot breathe its air? Its happy eyes forever dry, Its holy lips without a prayer! My God! my God! if thither led By Thy free grace unmerited, No crown nor palm be mine, but let me keep A heart that still can feel, and eyes that still can weep. 1868.

THE PRAYER-SEEKER.

ALONG the aisle where prayer was made, A woman, all in black arrayed, Close-veiled, between the kneeling host, With gliding motion of a ghost, Passed to the desk, and laid thereon A scroll which bore these words alone, *Pray for me!*

Back from the place of worshipping She glided like a guilty thing: The rustle of her draperies, stirred By hurrying feet, alone was heard; While, full of awe, the preacher read, As out into the dark she sped: "Pray for me!"

VOL. II. 19

Back to the night from whence she came, To unimagined grief or shame ! Across the threshold of that door None knew the burden that she bore ; Alone she left the written scroll, The legend of a troubled soul, — *Pray for me* !

Glide on, poor ghost of woe or sin ! Thou leav'st a common need within ; Each bears, like thee, some nameless weight, Some misery inarticulate, Some secret sin, some shrouded dread, Some household sorrow all unsaid. Pray for us !

Pass on! The type of all thou art, Sad witness to the common heart! With face in veil and seal on lip, In mute and strange companionship, Like thee we wander to and fro, Dumbly imploring as we go: Pray for us !

Ah, who shall pray, since he who pleads Our want perchance hath greater needs? Yet they who make their loss the gain Of others shall not ask in vain, And Heaven bends low to hear the prayer Of love from lips of self-despair : *Pray for us !*

In vain remorse and fear and hate Beat with bruised hands against a fate

THE BREWING OF SOMA

Whose walls of iron only move And open to the touch of love. He only feels his burdens fall Who, taught by suffering, pities all. *Pray for us !*

He prayeth best who leaves unguessed The mystery of another's breast. Why checks grow pale, why eyes o'erflow, Or heads are white, thou need'st not know. Enough to note by many a sign That every heart hath needs like thine. *Pray for us !*

1870.

THE BREWING OF SOMA.

"These libations mixed with milk have been prepared for Indra: offer Soma to the drinker of Soma." — Vashista, translated by MAX MÜLLER.

THE fagots blazed, the caldron's smoke Up through the green wood curled; "Bring honey from the hollow oak, Bring milky sap," the brewers spoke, In the childhood of the world.

And brewed they well or brewed they ill, The priests thrust in their rods, First tasted, and then drank their fill, And shouted, with one voice and will, "Behold the drink of gods!"

They drank, and lo! in heart and brain A new, glad life began; The gray of hair grew young again, The sick man laughed away his pain, The cripple leaped and ran.

"Drink, mortals, what the gods have sent, Forget your long annoy." So sang the priests. From tent to tent The Soma's sacred madness went, A storm of drunken joy.

Then knew each rapt inebriate A winged and glorious birth, Soared upward, with strange joy elate, Beat, with dazed head, Varuna's gate, And, sobered, sank to earth.

The land with Soma's praises rang; On Gihon's banks of shade Its hymns the dusky maidens sang; In joy of life or mortal pang All men to Soma prayed.

The morning twilight of the race Sends down these matin psalms; And still with wondering eyes we trace The simple prayers to Soma's grace, That Vedic verse embalms.

As in that child-world's early year, Each after age has striven By music, incense, vigils drear, And trance, to bring the skies more near, Or lift men up to heaven! Some fever of the blood and brain, Some self-exalting spell, The scourger's keen delight of pain, The Dervish dance, the Orphic strain, The wild-haired Bacchant's yell, —

The desert's hair-grown hermit sunk The saner brute below; The naked Santon, hashish-drunk, The cloister madness of the monk, The fakir's torture-show!

And yet the past comes round again, And new doth old fulfil; In sensual transports wild as vain We brew in many a Christian fane The heathen Soma still!

Dear Lord and Father of mankind, Forgive our foolish ways! Reclothe us in our rightful mind, In purer lives Thy service find, In deeper reverence, praise.

In simple trust like theirs who heard Beside the Syrian sea The gracious calling of the Lord, Let us, like them, without a word, Rise up and follow Thee.

O Sabbath rest by Galilee ! O calm of hills above,

Where Jesus knelt to share with Thee The silence of eternity Interpreted by love!

With that deep hush subduing all Our words and works that drown The tender whisper of Thy call, As noiseless let Thy blessing fall As fell Thy manna down.

Drop Thy still dews of quietness, Till all our strivings cease; Take from our souls the strain and stress, And let our ordered lives confess The beauty of Thy peace.

Breathe through the heats of our desire Thy coolness and Thy balm; Let sense be dumb, let flesh retire; Speak through the earthquake, wind, and fire,

O still, small voice of calm ! 1872.

A WOMAN.

OH, dwarfed and wronged, and stained with ill, Behold! thou art a woman still! And, by that sacred name and dear, I bid thy better self appear. Still, through thy foul disguise, I see The rudimental purity,

THE PRAYER OF AGASSIZ

That, spite of change and loss, makes good Thy birthright-claim of womanhood; An inward loathing, deep, intense; A shame that is half innocence. Cast off the grave-clothes of thy sin! Rise from the dust thou liest in, As Mary rose at Jesus' word, Redeemed and white before the Lord! Reclaim thy lost soul! In His name, Rise up, and break thy bonds of shame. Art weak? He's strong. Art fearful? Hear The world's O'ercomer: "Be of cheer!" What lip shall judge when He approves? Who dare to scorn the child He loves?

THE PRAYER OF AGASSIZ.

The island of Penikese in Buzzard's Bay was given by Mr. John Anderson to Agassiz for the uses of a summer school of natural history. A large barn was cleared and improvised as a lecture-room. Here, on the first morning of the school, all the company was gathered. "Agassiz had arranged no programme of exercises," says Mrs. Agassiz, in Louis Agassiz; his Life and Correspondence, "trusting to the interest of the occasion to suggest what might best be said or done. But, as he looked upon his pupils gathered there to study nature with him, by an impulse as natural as it was unpremeditated, he called upon them to join in silently asking God's blessing on their work together. The pause was broken by the first words of an address no less fervent than its unspoken prelude." This was in the summer of 1873, and Agassiz died the December following.

> On the isle of Penikese, Ringed about by sapphire seas, Fanned by breezes salt and cool, Stood the Master with his school.

Over sails that not in vain Wooed the west-wind's steady strain, Line of coast that low and far Stretched its undulating bar, Wings aslant along the rim Of the waves they stooped to skim, Rock and isle and glistening bay, Fell the beautiful white day.

Said the Master to the youth: "We have come in search of truth, Trying with uncertain key Door by door of mystery : We are reaching, through His laws, To the garment-hem of Cause, Him, the endless, unbegun, The Unnamable, the One Light of all our light the Source, Life of life, and Force of force. As with fingers of the blind, We are groping here to find What the hieroglyphics mean Of the Unseen in the seen. What the Thought which underlies Nature's masking and disguise, What it is that hides beneath Blight and bloom and birth and death. By past efforts unavailing, Doubt and error, loss and failing, Of our weakness made aware. On the threshold of our task Let us light and guidance ask, Let us pause in silent prayer ! "

296

THE PRAYER OF AGASSIZ

Then the Master in his place Bowed his head a little space, And the leaves by soft airs stirred, Lapse of wave and cry of bird, Left the solemn hush unbroken Of that wordless praver unspoken. While its wish, on earth unsaid, Rose to heaven interpreted. As, in life's best hours, we hear By the spirit's finer ear His low voice within us, thus The All-Father heareth us: And His holv ear we pain With our noisy words and vain. Not for Him our violence Storming at the gates of sense, His the primal language, His The eternal silences !

Even the careless heart was moved, And the doubting gave assent, With a gesture reverent, To the Master well-beloved. As thin mists are glorified By the light they cannot hide, All who gazed upon him saw, Through its veil of tender awe, How his face was still uplit By the old sweet look of it, Hopeful, trustful, full of cheer, And the love that casts out fear. Who the secret may declare Of that brief, unuttered prayer?

Did the shade before him come Of th' inevitable doom, Of the end of earth so near, And Eternity's new year?

In the lap of sheltering seas Rests the isle of Penikese: But the lord of the domain Comes not to his own again: Where the eyes that follow fail, On a vaster sea his sail Drifts beyond our beck and hail. Other lips within its bound Shall the laws of life expound ; Other eves from rock and shell Read the world's old riddles well: But when breezes light and bland Blow from Summer's blossomed land, When the air is glad with wings, And the blithe song-sparrow sings, Many an eye with his still face Shall the living ones displace, Many an ear the word shall seek He alone could fitly speak. And one name forevermore Shall be uttered o'er and o'er By the waves that kiss the shore, By the curlew's whistle sent Down the cool, sea-scented air: In all voices known to her, Nature owns her worshipper, Half in triumph, half lament. Thither Love shall tearful turn,

298

IN QUEST

Friendship pause uncovered there, And the wisest reverence learn From the Master's silent prayer.

1873.

IN QUEST.

HAVE I not voyaged, friend beloved, with thee On the great waters of the unsounded sea, Momently listening with suspended oar For the low rote of waves upon a shore Changeless as heaven, where never fog-cloud drifts Over its windless wood, nor mirage lifts The steadfast hills : where never birds of doubt Sing to mislead, and every dream dies out, And the dark riddles which perplex us here In the sharp solvent of its light are clear? Thou knowest how vain our quest; how, soon or late. The baffling tides and circles of debate Swept back our bark unto its starting-place, Where, looking forth upon the blank, gray space, And round about us seeing, with sad eyes, The same old difficult hills and cloud-cold skies, We said : "This outward search availeth not

To find Him. He is farther than we thought, Or, haply, nearer. To this very spot Whereon we wait, this commonplace of home,

As to the well of Jacob, He may come And tell us all things." As I listened there, Through the expectant silences of prayer, Somewhat I seemed to hear, which hath to me Been hope, strength, comfort, and I give it thee.

300

"The riddle of the world is understood Only by him who feels that God is good, As only he can feel who makes his love The ladder of his faith, and climbs above On th' rounds of his best instincts : draws no line Between mere human goodness and divine, But, judging God by what in him is best, With a child's trust leans on a Father's breast. And hears unmoved the old creeds babble still Of kingly power and dread caprice of will, Chary of blessing, prodigal of curse, The pitiless doomsman of the universe. Can Hatred ask for love? Can Selfishness Invite to self-denial? Is He less Than man in kindly dealing? Can He break His own great law of fatherhood, forsake And curse His children? Not for earth and heaven Can separate tables of the law be given. No rule can bind which He himself denies : The truths of time are not eternal lies."

So heard I; and the chaos round me spread To light and order grew; and, "Lord," I said, "Our sins are our tormentors, worst of all Felt in distrustful shame that dares not call Upon Thee as our Father. We have set A strange god up, but Thou remainest yet. All that I feel of pity Thou hast known Before I was; my best is all Thy own. From Thy great heart of goodness mine but drew Wishes and prayers; but Thou, O Lord, wilt do, In Thy own time, by ways I cannot see, All that I feel when I am nearest Thee !" 1873.

THE FRIEND'S BURIAL.

My thoughts are all in yonder town, Where, wept by many tears, To-day my mother's friend lays down The burden of her years.

True as in life, no poor disguise Of death with her is seen, And on her simple casket lies No wreath of bloom and green.

Oh, not for her the florist's art, The mocking weeds of woe; Dear memories in each mourner's heart

Like heaven's white lilies blow.

And all about the softening air Of new-born sweetness tells,

And the ungathered May-flowers wear The tints of ocean shells.

The old, assuring miracle Is fresh as heretofore; And earth takes up its parable Of life from death once more.

Here organ-swell and church-bell toll Methinks but discord were; The prayerful silence of the soul Is best befitting her.

No sound should break the quietude Alike of earth and sky: O wandering wind in Seabrook wood. Breathe but a half-heard sigh! Sing softly, spring-bird, for her sake; And thou not distant sea, Lapse lightly as if Jesus spake, And thou wert Galilee! For all her quiet life flowed on As meadow streamlets flow, Where fresher green reveals alone The noiseless ways they go. From her loved place of prayer I see The plain-robed mourners pass, With slow feet treading reverently The graveyard's springing grass. Make room, O mourning ones, for me, Where, like the friends of Paul, That you no more her face shall see You sorrow most of all. Her path shall brighten more and more Unto the perfect day: She cannot fail of peace who bore Such peace with her away. O sweet, calm face that seemed to wear The look of sins forgiven !

O voice of prayer that seemed to bear Our own needs up to heaven!

302

THE FRIEND'S BURIAL

How reverent in our midst she stood, Or knelt in grateful praise ! What grace of Christian womanhood Was in her household ways !

For still her holy living meant No duty left undone ; The heavenly and the human blent

Their kindred loves in one.

And if her life small leisure found For feasting ear and eye,

And Pleasure, on her daily round, She passed unpausing by,

Yet with her went a secret sense Of all things sweet and fair,

And Beauty's gracious providence Refreshed her unaware.

She kept her line of rectitude With love's unconscious ease; Her kindly instincts understood All gentle courtesies.

An inborn charm of graciousness Made sweet her smile and tone, And glorified her farm-wife dress With beauty not its own.

The dear Lord's best interpreters Are humble human souls; The Gospel of a life like hers Is more than books or scrolls. From scheme and creed the light goes out, The saintly fact survives ;

The blessed Master none can doubt

Revealed in holy lives.

1873.

A CHRISTMAS CARMEN.

I.

SOUND over all waters, reach out from all lands, The chorus of voices, the clasping of hands;

Sing hymns that were sung by the stars of the morn,

Sing songs of the angels when Jesus was born! With glad jubilations

Bring hope to the nations !

The dark night is ending and dawn has begun : Rise, hope of the ages, arise like the sun,

All speech flow to music, all hearts beat as one !

п.

Sing the bridal of nations! with chorals of love Sing out the war-vulture and sing in the dove,

- Till the hearts of the peoples keep time in accord,
- And the voice of the world is the voice of the Lord !

Clasp hands of the nations

In strong gratulations:

The dark night is ending and dawn has begun;

Rise, hope of the ages, arise like the sun,

All speech flow to music, all hearts beat as one !

ш.

Blow, bugles of battle, the marches of peace;

East, west, north, and south let the long quarrel cease :

Sing the song of great joy that the angels began, Sing of glory to God and of good-will to man!

Hark ! joining in chorus

The heavens bend o'er us!

The dark night is ending and dawn has begun ; Rise, hope of the ages, arise like the sun,

All speech flow to music, all hearts beat as one! 1873.

VESTA.

O CHRIST of God! whose life and death Our own have reconciled, Most quietly, most tenderly

Take home Thy star-named child !

Thy grace is in her patient eyes, Thy words are on her tongue; The very silence round her seems As if the angels sung.

Her smile is as a listening child's Who hears its mother call; The lilies of Thy perfect peace About her pillow fall.

She leans from out our clinging arms To rest herself in Thine ; vol. 11. 20

Alone to Thee, dear Lord, can we Our well-beloved resign !

Oh, less for her than for ourselves We bow our heads and pray; Her setting star, like Bethlehem's, To Thee shall point the way ! 1874.

CHILD-SONGS.

STILL linger in our noon of time And on our Saxon tongue The echoes of the home-born hymns The Aryan mothers sung.

And childhood had its litanies In every age and clime; The earliest cradles of the race Were rocked to poet's rhyme.

Nor sky, nor wave, nor tree, nor flower, Nor green earth's virgin sod, So moved the singer's heart of old As these small ones of God.

The mystery of unfolding life Was more than dawning morn, Than opening flower or crescent moon The human soul new-born!

And still to childhood's sweet appeal The heart of genius turns,

CHILD-SONGS

And more than all the sages teach From lisping voices learns, —

The voices loved of him who sang, Where Tweed and Teviot glide, That sound to-day on all the winds That blow from Rydal-side, —

Heard in the Teuton's household songs, And folk-lore of the Finn, Where'er to holy Christmas hearths

The Christ-child enters in !

Before life's sweetest mystery still The heart in reverence kneels; The wonder of the primal birth The latest mother feels.

We need love's tender lessons taught As only weakness can;

God hath His small interpreters ; The child must teach the man.

We wander wide through evil years, Our eyes of faith grow dim;

But he is freshest from His hands And nearest unto Him!

And haply, pleading long with Him For sin-sick hearts and cold, The angels of our childhood still The Father's face behold.

Of such the kingdom ! — Teach Thou us, O Master most divine, To feel the deep significance Of these wise words of Thine !

The haughty eye shall seek in vain What innocence beholds; No cunning finds the key of heaven, No strength its gate unfolds.

Alone to guilelessness and love That gate shall open fall ; The mind of pride is nothingness, The childlike heart is all ! 1875.

THE HEALER.

TO A VOUNG PHYSICIAN, WITH DORE'S PICTURE OF CHRIST HEALING THE SICK.

So stood of old the holy Christ Amidst the suffering throng; With whom His lightest touch sufficed To make the weakest strong.

That healing gift He lends to them Who use it in His name; The power that filled His garment's hem Is evermore the same.

For lo! in human hearts unseen The Healer dwelleth still,

308

THE TWO ANGELS

And they who make His temples clean The best subserve His will.

The holiest task by Heaven decreed, An errand all divine, The burden of our common need To render less is thine.

The paths of pain are thine. Go forth With patience, trust, and hope; The sufferings of a sin-sick earth Shall give thee ample scope.

Beside the unveiled mysteries Of life and death go stand, With guarded lips and reverent eyes And pure of heart and hand.

So shalt thou be with power endued From Him who went about The Syrian hillsides doing good, And casting demons out.

That Good Physician liveth yet Thy friend and guide to be; The Healer by Gennesaret Shall walk the rounds with thee.

THE TWO ANGELS.

- GOD called the nearest angels who dwell with Him above:
- The tenderest one was Pity, the dearest one was Love.

310

- "Arise," He said, "my angels! a wail of woe and sin
- Steals through the gates of heaven, and saddens all within.
- "My harps take up the mournful strain that from a lost world swells,
- The smoke of torment clouds the light and blights the asphodels.
- "Fly downward to that under world, and on its souls of pain
- Let Love drop smiles like sunshine, and Pity tears like rain ! "
- Two faces bowed before the Throne, veiled in their golden hair;
- Four white wings lessened swiftly down the dark abyss of air.
- The way was strange, the flight was long; at last the angels came
- Where swung the lost and nether world, redwrapped in rayless flame.
- There Pity, shuddering, wept; but Love, with faith too strong for fear,
- Took heart from God's almightiness and smiled a smile of cheer.
- And lo! that tear of Pity quenched the flame whereon it fell,
- And, with the sunshine of that smile, hope entered into hell!

- Two unveiled faces full of joy looked upward to the Throne,
- Four white wings folded at the feet of Him who sat thereon !
- And deeper than the sound of seas, more soft than falling flake,
- Amidst the hush of wing and song the Voice Eternal spake :
- "Welcome, my angels! ye have brought a holier joy to heaven;
- Henceforth its sweetest song shall be the song of sin forgiven !"

1875.

OVERRULED.

THE threads our hands in blindness spin No self-determined plan weaves in ; The shuttle of the unseen powers Works out a pattern not as ours.

Ah! small the choice of him who sings What sound shall leave the smitten strings; Fate holds and guides the hand of art; The singer's is the servant's part.

The wind-harp chooses not the tone That through its trembling threads is blown; The patient organ cannot guess What hand its passive keys shall press.

Through wish, resolve, and act, our will Is moved by undreamed forces still; And no man measures in advance His strength with untried circumstance.

As streams take hue from shade and sun, As runs the life the song must run; But, glad or sad, to His good end

God grant the varying notes may tend ! 1877.

HYMN OF THE DUNKERS.

KLOSTER KEDAR, EPHRATA, PENNSYLVANIA (1738).

SISTER MARIA CHRISTINA sings.

WAKE, sisters, wake ! the day-star shines ; Above Ephrata's eastern pines The dawn is breaking, cool and calm. Wake, sisters, wake to prayer and psalm !

Praised be the Lord for shade and light, For toil by day, for rest by night! Praised be His name who deigns to bless Our Kedar of the wilderness!

Our refuge when the spoiler's hand Was heavy on our native land; And freedom, to her children due, The wolf and vulture only knew.

We praised Him when to prison led, We owned Him when the stake blazed red; We knew, whatever might befall, His love and power were over all.

He heard our prayers; with outstretched arm He led us forth from cruel harm; Still, wheresoe'er our steps were bent, His cloud and fire before us went!

The watch of faith and prayer He set, We kept it then, we keep it yet. At midnight, crow of cock, or noon, He cometh sure, He cometh soon.

He comes to chasten, not destroy, To purge the earth from sin's alloy. At last, at last shall all confess His mercy as His righteousness.

The dead shall live, the sick be whole, The scarlet sin be white as wool; No discord mar below, above, The music of eternal love!

Sound, welcome trump, the last alarm ! Lord God of hosts, make bare thine arm, Fulfil this day our long desire, Make sweet and clean the world with fire !

Sweep, flaming besom, sweep from sight The lies of time; be swift to smite, Sharp sword of God, all idols down, Genevan creed and Roman crown.

Quake, earth, through all thy zones, till all The fanes of pride and priestcraft fall; And lift thou up in place of them Thy gates of pearl, Jerusalem!

Lo! rising from baptismal flame, Transfigured, glorious, yet the same, Within the heavenly city's bound Our Kloster Kedar shall be found.

He cometh soon ! at dawn or noon Or set of sun, He cometh soon. Our prayers shall meet Him on His way ; Wake, sisters, wake ! arise and pray ! 1877.

GIVING AND TAKING.

I have attempted to put in English verse a prose translation of a poem by Tinnevaluva, a Hindoo poet of the third century of our era.

WHO gives and hides the giving hand, Nor counts on favor, fame, or praise, Shall find his smallest gift outweighs The burden of the sea and land.

Who gives to whom hath naught been given, His gift in need, though small indeed As is the grass-blade's wind-blown seed, Is large as earth and rich as heaven.

Forget it not, O man, to whom A gift shall fall, while yet on earth ;

314

Yea, even to thy seven-fold birth Recall it in the lives to come.

Who broods above a wrong in thought Sins much; but greater sin is his Who, fed and clothed with kindnesses, Shall count the holy alms as nought.

Who dares to curse the hands that bless Shall know of sin the deadliest cost; The patience of the heavens is lost Beholding man's unthankfulness.

For he who breaks all laws may still In Sivam's mercy be forgiven; But none can save, in earth or heaven,

The wretch who answers good with ill. 1877.

THE VISION OF ECHARD.

THE Benedictine Echard Sat by the wayside well, Where Marsberg sees the bridal Of the Sarre and the Moselle.

Fair with its sloping vineyards And tawny chestnut bloom, The happy vale Ausonius sung For holy Treves made room.

On the shrine Helena builded To keep the Christ coat well, On minster tower and kloster cross, The westering sunshine fell.

There, where the rock-hewn circles O'erlooked the Roman's game, The veil of sleep fell on him, And his thought a dream became.

He felt the heart of silence Throb with a soundless word, And by the inward ear alone A spirit's voice he heard.

And the spoken word seemed written On air and wave and sod, And the bending walls of sapphire Blazed with the thought of God :

"What lack I, O my children? All things are in my hand; The vast earth and the awful stars I hold as grains of sand.

"Need I your alms? The silver And gold are mine alone; The gifts ye bring before me Were evermore my own.

"Heed I the noise of viols, Your pomp of masque and show? Have I not dawns and sunsets? Have I not winds that blow?







" Do I smell your gums of incense? Is my ear with chantings fed? Taste I your wine of worship, Or eat your holy bread?

"Of rank and name and honors Am I vain as ye are vain? What can Eternal Fulness From your lip-service gain?

"Ye make me not your debtor Who serve yourselves alone; Ye boast to me of homage Whose gain is all your own.

"For you I gave the prophets, For you the Psalmist's lay: For you the law's stone tables, And holy book and day.

"Ye change to weary burdens The helps that should uplift; Ye lose in form the spirit, The Giver in the gift.

"Who called ye to self-torment, To fast and penance vain? Dream ye Eternal Goodness Has joy in mortal pain?

"For the death in life of Nitria, For your Chartreuse ever dumb, What better is the neighbor, Or happier the home? "Who counts his brother's welfare As sacred as his own, And loves, forgives, and pities, He serveth me alone.

"I note each gracious purpose, Each kindly word and deed; Are ye not all my children? Shall not the Father heed?

"No prayer for light and guidance Is lost upon mine ear: The child's cry in the darkness Shall not the Father hear?

"I loathe your wrangling councils, I tread upon your creeds; Who made ye mine avengers, Or told ye of my needs;

"I bless men and ye curse them, I love them and ye hate; Ye bite and tear each other, I suffer long and wait.

"Ye bow to ghastly symbols, To cross and scourge and thorn; Ye seek his Syrian manger Who in the heart is born.

"For the dead Christ, not the living, Ye watch His empty grave, Whose life alone within you Has power to bless and save. "O blind ones, outward groping, The idle quest forego; Who listens to His inward voice Alone of Him shall know.

"His love all love exceeding The heart must needs recall, Its self-surrendering freedom, Its loss that gaineth all.

"Climb not the holy mountains, Their eagles know not me; Seek not the Blessed Islands, I dwell not in the sea.

"Gone is the mount of Meru, The triple gods are gone, And, deaf to all the lama's prayers, The Buddha slumbers on.

"No more from rocky Horeb The smitten waters gush; Fallen is Bethel's ladder, Quenched is the burning bush.

"The jewels of the Urim And Thummim all are dim; The fire has left the altar, The sign the teraphim.

"No more in ark or hill grove The Holiest abides; Not in the scroll's dead letter The eternal secret hides.

"The eye shall fail that searches For me the hollow sky; The far is even as the near, The low is as the high.

"What if the earth is hiding Her old faiths, long outworn? What is it to the changeless truth That yours shall fail in turn?

"What if the o'erturned altar Lays bare the ancient lie? What if the dreams and legends Of the world's childhood die?

"Have ye not still my witness Within yourselves alway, My hand that on the keys of life For bliss or bale I lay?

"Still, in perpetual judgment, I hold assize within, With sure reward of holiness, And dread rebuke of sin.

"A light, a guide, a warning, A presence ever near, Through the deep silence of the flesh I reach the inward ear.

"My Gerizim and Ebal Are in each human soul, The still, small voice of blessing, And Sinai's thunder-roll. "The stern behest of duty, The doom-book open thrown, The heaven ye seek, the hell ye fear, Are with yourselves alone."

A gold and purple sunset Flowed down the broad Moselle; On hills of vine and meadow lands The peace of twilight fell.

A slow, cool wind of evening Blew over leaf and bloom; And, faint and far, the Angelus

Rang from Saint Matthew's tomb.

Then up rose Master Echard, And marvelled : "Can it be

That here, in dream and vision, The Lord hath talked with me?"

He went his way; behind him The shrines of saintly dead, The holy coat and nail of cross, He left unvisited.

He sought the vale of Eltzbach His burdened soul to free, Where the foot-hills of the Eifel Are glassed in Laachersee.

And, in his Order's kloster, He sat, in night-long parle, VOL. II. 21

With Tauler of the Friends of God, And Nicolas of Basle.

And lo! the twain made answer: "Yea, brother, even thus The Voice above all voices Hath spoken unto us.

"The world will have its idols, And flesh and sense their sign: But the blinded eyes shall open, And the gross ear be fine.

"What if the vision tarry? God's time is always best; The true Light shall be witnessed, The Christ within confessed.

"In mercy or in judgment He shall turn and overturn, Till the heart shall be His temple Where all of Him shall learn." 1878.

INSCRIPTIONS.

ON A SUN-DIAL.

FOR DR. HENRY I. BOWDITCH.

WITH warning hand I mark Time's rapid flight From life's glad morning to its solemn night; Yet, through the dear God's love, I also show There 's Light above me by the Shade below. 1879. ON A FOUNTAIN.

FOR DOROTHEA L. DIX.

STRANGER and traveller, Drink freely and bestow A kindly thought on her Who bade this fountain flow, Yet hath no other claim Than as the minister Of blessing in God's name. Drink, and in His peace go!

1879.

THE MINISTER'S DAUGHTER.

In the minister's morning sermon He had told of the primal fall, And how thenceforth the wrath of God Rested on each and all.

And how of His will and pleasure, All souls, save a chosen few, Were doomed to the quenchless burning, And held in the way thereto.

Yet never by faith's unreason A saintlier soul was tried, And never the harsh old lesson A tenderer heart belied.

And, after the painful service
On that pleasant Sabbath day,
He walked with his little daughter
Through the apple-bloom of May.

Sweet in the fresh green meadows Sparrow and blackbird sung; Above him their tinted petals The blossoming orchards hung.

Around on the wonderful glory The minister looked and smiled; "How good is the Lord who gives us These gifts from His hand, my child!

"Behold in the bloom of apples And the violets in the sward A hint of the old, lost beauty Of the Garden of the Lord!"

Then up spake the little maiden, Treading on snow and pink : "O father ! these pretty blossoms Are very wicked, I think.

"Had there been no Garden of Eden There never had been a fall; And if never a tree had blossomed God would have loved us all."

"Hush, child!" the father answered, "By His decree man fell; His ways are in clouds and darkness, But He doeth all things well.

"And whether by His ordaining To us cometh good or ill, Joy or pain, or light or shadow, We must fear and love Him still." "Oh, I fear Him!" said the daughter, "And I try to love Him, too; But I wish He was good and gentle, Kind and loving as you."

The minister groaned in spirit As the tremulous lips of pain And wide, wet eyes uplifted Questioned his own in vain.

Bowing his head he pondered The words of the little one; Had he erred in his life-long teaching? Had he wrong to his Master done?

To what grim and dreadful idol Had he lent the holiest name? Did his own heart, loving and human,

The God of his worship shame?

And lo! from the bloom and greenness, From the tender skies above, And the face of his little daughter, He read a lesson of love.

No more as the cloudy terror Of Sinai's mount of law, But as Christ in the Syrian lilies

The vision of God he saw.

And, as when, in the clefts of Horeb, Of old was His presence known, The dread Ineffable Glory Was Infinite Goodness alone. Thereafter his hearers noted In his prayers a tenderer strain, And never the gospel of hatred Burned on his lips again.

And the scoffing tongue was prayerful, And the blinded eyes found sight, And hearts, as flint aforetime,

Grew soft in his warmth and light. 1880.

BY THEIR WORKS.

CALL him not heretic whose works attest His faith in goodness by no creed confessed. Whatever in love's name is truly done To free the bound and lift the fallen one Is done to Christ. Whoso in deed and word Is not against Him labors for our Lord. When He, who, sad and weary, longing sore For love's sweet service, sought the sisters' door, One saw the heavenly, one the human guest, But who shall say which loved the Master best ? 1881.

THE WORD.

VOICE of the Holy Spirit, making known

Man to himself, a witness swift and sure,

Warning, approving, true and wise and pure, Counsel and guidance that misleadeth none ! By thee the mystery of life is read;

The picture-writing of the world's gray seers, The myths and parables of the primal years, Whose letter kills, by thee interpreted Take healthful meanings fitted to our needs,

And in the soul's vernacular express

The common law of simple righteousness. Hatred of cant and doubt of human creeds May well be felt: the unpardonable sin Is to deny the Word of God within ! 1881.

THE BOOK.

GALLERY of sacred pictures manifold, A minster rich in holy effigies, And bearing on entablature and frieze The hieroglyphic oracles of old. Along its transept aureoled martyrs sit; And the low chancel side-lights half acquaint The eye with shrines of prophet, bard, and saint, Their age-dimmed tablets traced in doubtful writ! But only when on form and word obscure Falls from above the white supernal light We read the mystic characters aright, And life informs the silent portraiture, Until we pause at last, awe-held, before The One ineffable Face, love, wonder, and adore. 1881.

REQUIREMENT.

WE live by Faith ; but Faith is not the slave Of text and legend. Reason's voice and God's, Nature's and Duty's, never are at odds. What asks our Father of His children, save Justice and mercy and humility,

A reasonable service of good deeds,

Pure living, tenderness to human needs, Reverence and trust, and prayer for light to see The Master's footprints in our daily ways?

No knotted scourge nor sacrificial knife,

But the calm beauty of an ordered life Whose very breathing is unworded praise ! — A life that stands as all true lives have stood, Firm-rooted in the faith that God is Good. 1881.

HELP.

DREAM not, O Soul, that easy is the task Thus set before thee. If it proves at length, As well it may, beyond thy natural strength, Faint not, despair not. As a child may ask A father, pray the Everlasting Good For light and guidance midst the subtle snares Of sin thick planted in life's thoroughfares, For spiritual strength and moral hardihood; Still listening, through the noise of time and sense. To the still whisper of the Inward Word; Bitter in blame, sweet in approval heard, Itself its own confirming evidence : To health of soul a voice to cheer and please, To guilt the wrath of the Eumenides. 1881.

UTTERANCE.

BUT what avail inadequate words to reach The innermost of Truth? Who shall essay, Blinded and weak, to point and lead the way, Or solve the mystery in familiar speech? Yet, if it be that something not thy own. Some shadow of the Thought to which our schemes. Creeds, cult, and ritual are at best but dreams, Is even to thy unworthiness made known, Thou mayst not hide what yet thou shouldst not dare To utter lightly, lest on lips of thine The real seem false, the beauty undivine. So, weighing duty in the scale of prayer, Give what seems given thee. It may prove a seed Of goodness dropped in fallow-grounds of need. 1881.

ORIENTAL MAXIMS.

PARAPHRASE OF SANSCRIT TRANSLATIONS.

THE INWARD JUDGE.

From Institutes of Manu.

THE soul itself its awful witness is. Say not in evil doing, "No one sees," And so offend the conscious One within, Whose ear can hear the silences of sin

Ere they find voice, whose eyes unsleeping see The secret motions of iniquity.

Nor in thy folly say, "I am alone." For, seated in thy heart, as on a throne, The ancient Judge and Witness liveth still, To note thy act and thought; and as thy ill Or good goes from thee, far beyond thy reach, The solemn Doomsman's seal is set on each. 1878.

LAYING UP TREASURE.

From the Mahabhárata.

BEFORE the Ender comes, whose charioteer Is swift or slow Disease, lay up each year Thy harvests of well-doing, wealth that kings Nor thieves can take away. When all the things Thou callest thine, goods, pleasures, honors fall, Thou in thy virtue shalt survive them all. 1881.

CONDUCT.

From the Mahabhárata.

HEED how thou livest. Do no act by day Which from the night shall drive thy peace away. In months of sun so live that months of rain Shall still be happy. Evermore restrain Evil and cherish good, so shall there be Another and a happier life for thee. 1881.

330

AN EASTER FLOWER GIFT.

O DEAREST bloom the seasons know, Flowers of the Resurrection blow, Our hope and faith restore; And through the bitterness of death And loss and sorrow, breathe a breath Of life forevermore!

The thought of Love Immortal blends With fond remembrances of friends; In you, O sacred flowers, By human love made doubly sweet, The heavenly and the earthly meet, The heart of Christ and ours !

1882.

THE MYSTIC'S CHRISTMAS.

"ALL hail!" the bells of Christmas rang, "All hail!" the monks at Christmas sang, The merry monks who kept with cheer The gladdest day of all their year.

But still apart, unmoved thereat, A pious elder brother sat Silent, in his accustomed place, With God's sweet peace upon his face.

"Why sitt'st thou thus?" his brethren cried. "It is the blessed Christmas-tide; The Christmas lights are all aglow, The sacred lilies bud and blow.

"Above our heads the joy-bells ring, Without the happy children sing, And all God's creatures hail the morn On which the holy Christ was born!

"Rejoice with us; no more rebuke Our gladness with thy quiet look." The gray monk answered: "Keep, I pray, Even as ye list, the Lord's birthday.

- "Let heathen Yule fires flicker red Where thronged refectory feasts are spread; With mystery-play and masque and mime And wait-songs speed the holy time!
- "The blindest faith may haply save ; The Lord accepts the things we have ; And reverence, howsoe'er it strays, May find at last the shining ways.
- "They needs must grope who cannot see, The blade before the ear must be; As ye are feeling I have felt, And where ye dwell I too have dwelt.
- "But now, beyond the things of sense, Beyond occasions and events, I know, through God's exceeding grace, Release from form and time and place.
- "I listen, from no mortal tongue, To hear the song the angels sung; And wait within myself to know The Christmas lilies bud and blow.

832

"The outward symbols disappear From him whose inward sight is clear; And small must be the choice of days To him who fills them all with praise!

"Keep while you need it, brothers mine, With honest zeal your Christmas sign, But judge not him who every morn Feels in his heart the Lord Christ born!" 1882.

AT LAST.

WHEN on my day of life the night is falling, And, in the winds from unsunned spaces blown,I hear far voices out of darkness calling My feet to paths unknown,

- Thou who hast made my home of life so pleasant, Leave not its tenant when its walls decay;
- O Love Divine, O Helper ever present, Be Thou my strength and stay!
- Be near me when all else is from me drifting: Earth, sky, home's pictures, days of shade and shine,
- And kindly faces to my own uplifting The love which answers mine.

I have but Thee, my Father ! let Thy spirit Be with me then to comfort and uphold; No gate of pearl, no branch of palm I merit, Nor street of shining gold. Suffice it if — my good and ill unreckoned, And both forgiven through Thy abounding grace —

I find myself by hands familiar beckoned Unto my fitting place.

- Some humble door among Thy many mansions, Some sheltering shade where sin and striving cease,
- And flows forever through heaven's green expansions

The river of Thy peace.

There, from the music round about me stealing, I fain would learn the new and holy song, And find at last, beneath Thy trees of healing, The life for which I long. 1882.

WHAT THE TRAVELLER SAID AT SUNSET.

THE shadows grow and deepen round me, I feel the dew-fall in the air; The muezzin of the darkening thicket, I hear the night-thrush call to prayer.

The evening wind is sad with farewells, And loving hands unclasp from mine; Alone I go to meet the darkness Across an awful boundary-line.

As from the lighted hearths behind me I pass with slow, reluctant feet,

334

What waits me in the land of strangeness? What face shall smile, what voice shall greet?

What space shall awe, what brightness blind me? What thunder-roll of music stun? What vast processions sweep before me Of shapes unknown beneath the sun?

I shrink from unaccustomed glory, I dread the myriad-voicëd strain; Give me the unforgotten faces, And let my lost ones speak again.

He will not chide my mortal yearning Who is our Brother and our Friend; In whose full life, divine and human, The heavenly and the earthly blend.

Mine be the joy of soul-communion, The sense of spiritual strength renewed, The reverence for the pure and holy, The dear delight of doing good.

No fitting ear is mine to listen An endless anthem's rise and fall; No curious eye is mine to measure The pearl gate and the jasper wall.

For love must needs be more than knowledge: What matter if I never know Why Aldebaran's star is ruddy, Or warmer Sirius white as snow!

Forgive my human words, O Father ! I go Thy larger truth to prove; Thy mercy shall transcend my longing: I seek but love, and Thon art Love !

I go to find my lost and mourned for Safe in Thy sheltering goodness still, And all that hope and faith foreshadow Made perfect in Thy holy will!

1883.

THE "STORY OF IDA."

Francesca Alexander, whose pen and pencil have so reverently transcribed the simple faith and life of the Italian peasantry, wrote the narrative published with John Ruskin's introduction under the title, *The Story of Ida*.

WEARY of jangling noises never stilled,

The skeptic's sneer, the bigot's hate, the din

Of clashing texts, the webs of creed men spin Round simple truth, the children grown who build With gilded cards their new Jerusalem,

Busy, with sacerdotal tailorings

And tinsel gauds, bedizening holy things, I turn, with glad and grateful heart, from them To the sweet story of the Florentine

Immortal in her blameless maidenhood,

Beautiful as God's angels and as good; Feeling that life, even now, may be divine With love no wrong can ever change to hate, No sin make less than all-compassionate ! 1884.

336

THE LIGHT THAT IS FELT.

A TENDER child of summers three, Seeking her little bed at night, Paused on the dark stair timidly. "Oh, mother! Take my hand," said she, "And then the dark will all be light."

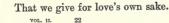
We older children grope our way From dark behind to dark before; And only when our hands we lay, Dear Lord, in Thine, the night is day, And there is darkness nevermore.

Reach downward to the sunless days Wherein our guides are blind as we, And faith is small and hope delays; Take Thou the hands of prayer we raise, And let us feel the light of Thee! 1884.

THE TWO LOVES.

SMOOTHING soft the nestling head Of a maiden fancy-led, Thus a grave-eyed woman said:

"Richest gifts are those we make, Dearer than the love we take



- "Well I know the heart's unrest; Mine has been the common quest, To be loved and therefore blest.
- "Favors undeserved were mine; At my feet as on a shrine Love has laid its gifts divine.
- "Sweet the offerings seemed, and yet With their sweetness came regret, And a sense of unpaid debt.
- " Heart of mine unsatisfied, Was it vanity or pride That a deeper joy denied?
- "Hands that ope but to receive Empty close; they only live Richly who can richly give.
- "Still," she sighed, with moistening eyes, "Love is sweet in any guise; But its best is sacrifice!
- "He who, giving, does not crave Likest is to Him who gave Life itself the loved to save.
- "Love, that self-forgetful gives, Sows surprise of ripened sheaves, Late or soon its own receives."

1884.

ADJUSTMENT.

| THE tree of Faith its bare, dry boughs must |
|---|
| shed |
| That nearer heaven the living ones may climb; |
| The false must fail, though from our shores of |
| time |
| The old lament be heard, "Great Pan is dead!" |
| That wail is Error's, from his high place hurled; |
| This sharp recoil is Evil undertrod; |
| Our time's unrest, an angel sent of God |
| Troubling with life the waters of the world. |
| Even as they list the winds of the Spirit blow |
| To turn or break our century-rusted vanes; |
| Sands shift and waste; the rock alone re- |
| mains |
| Where, led of Heaven, the strong tides come and |
| |
| go, |
| And storm-clouds, rent by thunderbolt and wind, |
| Leave, free of mist, the permanent stars be- |
| hind. |
| |
| Therefore I trust, although to outward sense |
| Both true and false seem shaken; I will |
| hold |
| With newer light my reverence for the old, |
| And calmly wait the births of Providence. |
| No gain is lost; the clear-eyed saints look down |
| Untroubled on the wreck of schemes and |
| creeds; |
| Love yet remains, its rosary of good deeds |

Counting in task-field and o'erpeopled town;

Truth has charmed life; the Inward Word survives,

And, day by day, its revelation brings;

Faith, hope, and charity, whatsoever things Which cannot be shaken, stand. Still holy lives Reveal the Christ of whom the letter told, And the new gospel verifies the old.

1885.

HYMNS OF THE BRAHMO SOMAJ.

I have attempted this paraphrase of the Hymns of the Brahmo Somaj of India, as I find them in Mozoomdar's account of the devotional exercises of that remarkable religious development which has attracted far less attention and sympathy from the Christian world than it deserves, as a fresh revelation of the direct action of the Divine Spirit upon the human heart.

I.

THE mercy, O Eternal One!

By man unmeasured yet,

In joy or grief, in shade or sun,

I never will forget.

I give the whole, and not a part, Of all Thou gavest me;

Of all flou gavest me,

My goods, my life, my soul and heart,

I yield them all to Thee!

п.

We fast and plead, we weep and pray, From morning until even; We feel to find the holy way, We knock at the gate of heaven!

340

And when in silent awe we wait, And word and sign forbear, The hinges of the golden gate Move, soundless, to our prayer! Who hears the eternal harmonies Can heed no outward word; Blind to all else is he who sees The vision of the Lord!

III.

O soul, be patient, restrain thy tears, Have hope, and not despair: As a tender mother heareth her child God hears the penitent praver. And not forever shall grief be thine : On the Heavenly Mother's breast, Washed clean and white in the waters of joy Shall His seeking child find rest. Console thyself with His word of grace, And cease thy wail of woe. For His mercy never an equal hath. And His love no bounds can know. Lean close unto Him in faith and hope; How many like thee have found In Him a shelter and home of peace, By His mercy compassed round ! There, safe from sin and the sorrow it brings, They sing their grateful psalms, And rest, at noon, by the wells of God, In the shade of His holy palms! 1885.

REVELATION.

"And I went into the Vale of Beavor, and as I went I preached repentance to the people. And one morning, sitting by the fire, a great cloud came over me, and a temptation beset me. And it was said: All things come by Nature; and the Elements and the Stars came over me. And as I sat still and let it alone, a living hope arose in me, and a true Voice which said: There is a living God who made all things. And immediately the cloud and the temptation vanished, and Life rose over all, and my heart was glad and I praised the Living God."— Journal of George Fox, 1690.

STILL, as of old, in Beavor's Vale, O man of God! our hope and faith The Elements and Stars assail, And the awed spirit holds its breath, Blown over by a wind of death.

Takes Nature thought for such as we, What place her human atom fills, The weed-drift of her careless sea, The mist on her unheeding hills? What recks she of our helpless wills?

Strange god of Force, with fear, not love, Its trembling worshipper! Can prayer Reach the shut ear of Fate, or move Unpitying Energy to spare? What doth the cosmic Vastness care?

In vain to this dread Uncorcern For the All-Father's love we look; In vain, in quest of it, we turn The storied leaves of Nature's book, The prints her rocky tablets took.

- I pray for faith, I long to trust; I listen with my heart, and hear
- A Voice without a sound : "Be just, Be true, be merciful, revere The Word within thee : God is near !
- "A light to sky and earth unknown Pales all their lights: a mightier force
 - Than theirs the powers of Nature own, And, to its goal as at its source, His Spirit moves the Universe.
- "Believe and trust. Through stars and suns, Through life and death, through soul and sense,
 - His wise, paternal purpose runs; The darkness of His providence Is star-lit with benign intents."
 - O joy supreme! I know the Voice, Like none beside on earth or sea; Yea, more, O soul of mine, rejoice, By all that He requires of me, I know what God himself must be.
 - No picture to my aid I call, I shape no image in my prayer; I only know in Him is all Of life, light, beauty, everywhere, Eternal Goodness here and there!
 - I know He is, and what He is, Whose one great purpose is the good

Of all. I rest my soul on His Immortal Love and Fatherhood; And trust Him, as His children should.

I fear no more. The clouded face Of Nature smiles; through all her things Of time and space and sense I trace The moving of the Spirit's wings, And hear the song of hope she sings. 1886.

NOTES

Note 1, page 11. The celebrated Captain Smith, after resigning the government of the Colony in Virginia, in his capacity of "Admiral of New England," made a careful survey of the coast from Penobscot to Cape Cod, in the summer of 1614.

Note 2, page 12. Captain Smith gave to the promontory, now called Cape Ann, the name of Tragabizanda, in memory of his young and beautiful mistress of that name, who, while he was a captive at Constantinople, like Desdemona, "loved him for the dangers he had passed."

Note 3, page 142. The African Chief was the title of a poem by Mrs. Sarah Wentworth Morton, wife of the Hon. Perez Morton, a former attorney-general of Massachusetts. Mrs. Morton's nom de plume was Philenia. The school book in which The African Chief was printed was Caleb Bingham's The American Preceptor, and the poem contained fifteen stanzas, of which the first four were as follows :--

> "See how the black ship cleaves the main High-bounding o'er the violet wave, Remurmuring with the groans of pain, Deep freighted with the princely slave.

- "Did all the gods of Afric sleep, Forgetful of their guardian love, When the white traitors of the deep Betrayed him in the palmy grove?
- "A chief of Gambia's golden shore, Whose arm the band of warriors led, Perhaps the lord of boundless power, By whom the foodless poor were fed.
- "Does not the voice of reason cry, ⁶ Claim the first right which nature gave; From the red scourge of bondage fly, Nor deign to live a burdened slave'?"

Note 4, page 145. Chalkley's own narrative of this incident, as given in his Journal, is as follows : "To stop their murmuring, I told them they should not need to cast lots, which was usual in such cases, which of us should die first, for I would freely offer up my life to do them good. One said, 'God bless you ! I will not eat any of you.' Another said. 'He would die before he would eat any of me ;' and so said several. I can truly say, on that occasion, at that time, my life was not dear to me, and that I was serious and ingenuous in my proposition : and as I was leaning over the side of the vessel, thoughtfully considering my proposal to the company, and looking in my mind to Him that made me. a very large dolphin came up towards the top or surface of the water, and looked me in the face ; and I called the people to put a hook into the sea, and take him, for here is one come to redeem me (I said to them). And they put a hook into the sea, and the fish readily took it, and they caught him. He was longer than myself. I think he was about six feet long, and the largest that ever I saw. This plainly showed us that we ought not to distrust the providence of the Almighty. The people were quieted by this act of Providence, and murmured no more. We caught enough to eat plentifully of, till we got into the capes of Delaware."

Note 5, page 153. An interesting account of Lady Hester Stanhope may be found in Kinglake's *Eothen*, chapter viii.

Note 6, page 255. "Too late I loved Thee, O Beauty of ancient days, yet ever new ! And lo ! Thou wert within, and I abroad searching for thee. Thou wert with me, but I was not with Thee." — August. Solilog., Book X.

Note 7, page 255. "And I saw that there was an Ocean of Darkness and Death: but an infinite Ocean of Light and Love flowed over the Ocean of Darkness: And in that I saw the infinite Love of God."—George Fox's Journal.

Note 8, page 256. The story of the origin of this name, *El alma perdida* is thus related by Lieut. Herndon. "An Indian and his wife went out from the village to work their chacra, carrying their infant with them. The woman went to the spring to get water, leaving the man in charge of the child, with many cautions to take good care of it. When she arrived at the spring, she found it dried up, and went further to look for another. The husband, alarmed at her long absence, left the child and went in search. When they returned the child was gone; and to their repeated cries, as they wandered through the woods in search, they could get no response save the wailing cry of this little bird heard for the first time, whose notes their anxious and excited imagination syllabled into *pa-pa, ma-ma*, (the present Quichua name of the bird). I suppose the Spaniards heard this story, and with that religious poetic turn of thought which seems peculiar to this people, called the bird ' The Lost Soul.'" — *Exploration of the Valley of the Amazon made under direction of the Navy Department.* By William Lewis Herndon and Lardner Gibbon, Part I. p. 156.

Þ

a



UNIVERSITY OF CALIFORNIA AT LOS ANGELES THE UNIVERSITY LIBRARY

| 9 | This book is DUE on the last date stamped below | , |
|---|---|---|
| | OCT 1 3 1936 | |
| | DEC 6 1937 | |
| | * NOV 8 1938 | |
| | WAY 1 0 1939 | |
| | 64.6% | |
| 0 | CT 1 9 1944 | |
| | | |
| | MAY 31 1955 | |
| | • OL APR 07 1997 | |
| | REGID LD-URL | |
| | MAY 0 5 1997 | |
| | | |
| | - Franciski | |
| | 1.22.5 | |
| | and a specification | |

Form L-9-15m-7,'35

